विशेषतः विद्यार्थियों के लिए

आज की हिन्दी

सम्पादक—

श्री धर्मवीर एम. ए.

साहित्य भवन
हस्पताल रोड, लाहौर

मई १९३९

द्वितीय संस्करण

मूल्य सजिल्द १॥=)

प्रकाशक—
विश्व साहित्य ग्रन्थमाला
हस्पताल रोड,
लाहौर।



मुद्रक—
श्रीकृष्ण दीक्षित,
बाम्बे मैशीन प्रेस;
मोहनलाल रोड, लाहौर।

विषय-सूची

———

भूमिका

भाषा सदा प्रगतिशील रहती है। व्याकरण उसे बाँधने का प्रयत्न करता है। साहित्य के समालोचक तथा जनरुचि दोनों ही भाषा को बाँध कर रखना चाहते हैं। किसी तरह के परिवर्तन उन्हें पसन्द नहीं आते, फिर भी भाषा बँध कर नहीं रहती। वह सदा प्रगतिशील और परिवर्तनशील रहती है। हमारा विश्वास है कि यदि भाषा को सदा के लिए बाँध दिया जाय तो उसका प्राण ही कुण्ठित हो जायगा। संस्कृत-व्याकरण ने संस्कृत भाषा को बहुत दूर तक बाँध दिया था, परिणाम यह हुआ कि संस्कृत बोलचाल की भाषा ही न रही।

संसार की सभी भाषाएँ परिवर्तनशील हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि इन दिनों हिन्दी विशेष परिवर्तनशील है। वह अभी निर्माण की दशा में है। इससे उसमें नित नए शब्दों, नित नए प्रयोगों और नित नये मुहावरों का प्रवेश हो रहा है। यह संग्रह मेरी इस स्थापना का एक बहुत बड़ा प्रमाण है। इस संग्रह में मैंने हिन्दी के उन लेखकों को स्थान दिया है, जिनका हिन्दी-जगत में मान है और जो गद्य-लेखन की दृष्टि से अपने-अपने ढंग के

प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं । हिन्दी के अर्वाचीन युग के इन लेखकों की शैली में ज़मीन और आसमान का अन्तर दिखाई देता है । आज से आठ-दस साल के बाद इस शैली में और कितना परिवर्तन आजायगा, यह अभी कौन कह सकता है।

हिन्दी में नवीन युग का प्रारम्भ बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है । उनका निधन हुए आज आधी शताब्दी बीत गई । इन पचास वर्षों में हिन्दी की शैली तथा रूप में जितना अन्तर आ गया है, उतना संसार की बहुत कम भाषाओं में आया होगा । बाबू हरिश्चन्द्र की शैली तथा श्री जैनेन्द्र कुमार की शैली मिला कर देखिए, यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा ।

इस संग्रह में वर्तमान युग की आधी शताब्दी के हिन्दी गद्य का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न किया गया है । इन विभिन्न शैलियों में मैंने अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया । भारतवर्ष की कुछ अन्य भाषाओं के सुप्रसिद्ध लेखकों की कृतियाँ मैंने इस संग्रह के प्रारम्भ में इस कारण दी हैं कि वे अनुवादित होकर वर्तमान हिन्दी का बहुत महत्वपूर्ण तथा सजीव भाग बन गई हैं । उन्हें सम्मानपूर्वक एक साथ देने के अभिप्राय से मैंने उन्हें इस संग्रह के प्रारम्भ में रक्खा है ।

एक बात और। हिन्दी के स्वरूप के विषय में आज अनेक बातों के सम्बन्ध में मतभेद उपस्थित होगया है । हिन्दी का ेत्र अब इतना विस्तृत होगया है कि यह होना स्वाभाविक ही था।

लिंगों का प्रश्न, हिन्दी, उर्दू और हिन्दोस्तानी का प्रश्न, अँगरेजी शैली के अनुसरण का प्रश्न—ये सब आजकल के हिन्दी साहित्यिकों में रोज़ की चरचा का विषय बने हुए हैं। मेरा ख्याल है कि इन सब प्रश्नों का समुचित हल वर्तमान युग के प्रतिभाशाली हिन्दी लेखक ही कर सकेंगे। इन बातों का निर्णय 'राजनीतिक पैक्टों' से नहीं हो सकता।

लाहौर
१४ सितम्बर, १६३७ }

धर्मवीर

भारत का इतिहास

(श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

आजकल भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ा जाता है—जिसे रटकर लड़के परीक्षा देते हैं, वह भारत को आधी रात के सन्नाटे में दिखाई दिये हुए बुरे सपने की कहानी-मात्र है। न जाने कहाँ से कौन आये; लड़ाई-भिड़ाई, मारकाट का शोर मच गया; बाप-बेटे और भाई-भाई में राजगद्दी के लिए चोटें चलने लगीं; एक दल जाता है तो दूसरा दल आता है, वह सिधारता है तो तीसरा पधारता है। पठान-मुग़ल-पोर्चुगीज़-फ़रासीसी-अँगरेज, सब ने मिलकर उस दुःस्वप्न को उत्तरोत्तर जटिल बना डाला है।

किन्तु इस प्रकार रक्तरञ्जित चञ्चल स्वप्न का पर्दा डालकर देखने से भारत का यथार्थ रूप नहीं दिखाई दे सकता। इस पृथ्वी पर भारत-वासियों का स्थान कहाँ है, इसका कुछ भी उत्तर ये इतिहास नहीं देते। इन्हें देखने से तो यही जान पड़ता है कि भारत-वासी कहीं हैं ही नहीं; भारत में जो लोग खून-खराबी, मारकाट, लूटपाट कर गये हैं, वे ही जो कुछ हैं सो हैं।

मगर क्या उस दुर्दिन में उस मारकाट और खूनख़राबी के सिवा और कुछ था ही नहीं? ऐसा नहीं हो सकता। आँधी

के समय आँधी ही उस समय की प्रधान घटना है—यह बात आँधी के लाख-लाख गरजने पर भी नहीं मानी जा सकती। उस दिन भी उस धूलिधूसरित आकाश के तले घर-घर जन्म-मृत्यु और सुख-दुख का क्रम जारी था। वह क्रम आँधी के मारे चाहे देख न पड़े, पर हमारे लिए वही जानने की वस्तु है; हमें इस समय उसी के जानने की ज़रूरत है। किन्तु हमारे लिए वही प्रधान ज्ञेय होने पर भी, विदेशी के लिये वह आँधी ही प्रधान है। उस आँधी की धूल उसकी आँखों में ऐसी भर गई है कि वह और कुछ देख ही नहीं सकता। इसका कारण यही है कि वह हमारे घर के बाहर है। इससे हम विदेशी लेखकों के लिखे हुए भारत के इतिहास में उसी धूल—उसी आँधी का वर्णन पाते हैं; अपने घर का हाल कुछ नहीं पाते। उस इतिहास के पढ़ने से जान पड़ता है कि उस समय भारतवर्ष था ही नहीं; केवल मुग़ल-पठानों के गर्जनपूर्ण बवण्डर, सूखे पत्तों के सदृश, झण्डे उड़ाकर उत्तर से दक्षिण और पश्चिम से पूर्व तक घूम रहे थे।

किन्तु असल बात तो यह है कि उस समय भी हमारा देश था। यदि नहीं था, तो इस उपद्रव-उत्पात के समय में भी रणजीतसिंह, शिवाजी, राणा प्रतापसिंह, कबीर, नानक, चैतन्यदेव, तुकाराम, रामदास आदि कहाँ से पैदा हो गये? तुलसी, सूर, भूषण आदि कवियों ने कहाँ से जन्म लिया? उस समय दिल्ली और आगरा ही न थे; काशी, नवद्वीप, पंजाब, राजपूताना और महाराष्ट्र प्रान्त भी थे। इन सपूतों ने जिस समय जन्म लिया, उस समय हमारे घर में—असली भारतवर्ष

में, वेग से जीवनस्रोत बह रहा था। उस समय हमारे घर में जो चेष्टा की लहरें उठ रही थीं, जो सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे, उनका ब्योरा विदेशियों के लिखे इतिहास में कहीं नहीं मिलता।

हम लोग भारतवर्ष के, आँधी में उड़ने वाले घास-फूस नहीं, हम दृढ़ वृक्ष हैं। सैकड़ों शताब्दियों से, हमारी जड़ की हजारों शाखाएँ भारतवर्ष के मर्मस्थान पर अधिकार जमाए बैठी हैं। किन्तु हमारे अभाग्य से, हमें जो इतिहास पढ़ना पड़ता है, वह ठीक इससे उल्टा सबक देता है। हमारे लड़के भारत के साथ अपने ऐसे सम्बन्ध की बात जानने ही नहीं पाते। उन्हें जान पड़ता है कि भारत के वे कोई हैं ही नहीं; अन्य देशों से आये हुए ही सब कुछ हैं।

जब अपने देश के साथ हम अपने सम्बन्ध को ऐसा हीन समझ लेते हैं, तब देश पर ममता या अनुराग कहाँ से हो? इस दशा में स्वदेश के स्थान पर विदेश को स्थापित करने में हम को कुछ भी संकोच नहीं होता। भारतवर्ष की बेइज़्ज़ती देखकर हमको मर्मवेदना और लज्जा का अनुभव ही नहीं हो सकता। हमारे अँगरेज़ी पढ़े-लिखे नौजवान अनायास कह उठते हैं कि हमारे देश में पहले था ही क्या? हमको तो खान-पान, चाल-ढाल, रहन-सहन, सब कुछ विदेशियों से ही सीखना होगा।

भाग्यशाली देशों के निवासी देश के इतिहास में ही अपने चिरकालीन देश को पा जाते हैं—बाल्यावस्था में इतिहास ही उनके देश के साथ उनका घनिष्ट परिचय करा देता है। किन्तु, हमारे यहाँ ठीक इससे उल्टा है। देश के इतिहास

ने ही हमारे देश को छिपा रखा है। महमूद के आक्रमण से लेकर लार्ड कर्ज़न के साम्राज्य-गर्व से भरे हुए उद्गार निकलने तक जो कुछ भारत का इतिहास लिखा गया है, वह हमारे लिये विचित्र-अन्धकारमय कुहरा सा है। वह अपने देश को देखने में हमारी दृष्टि को सहायता नहीं करता; बल्कि स्वभावतः जो कुछ हम देख सकते हैं, उसमें भी रुकावट डालता है। वह ऐसी जगह पर अपना बनावटी प्रकाश डालता है, जहाँ से हमारा देश हमें अन्धकारमय जान पड़ता है। उस अन्धकार में मैजिक लालटेन के तमाशे की तरह नवाबों की विलास-शालाओं में झाड़-फानूसों का प्रकाश प्रकट होता है।

इसके बाद प्रलय-रात्रि में, जब मुग़ल-साम्राज्य रणशय्या पर पड़ा सिसक रहा था, श्मशान-भूमि में दूर से आये हुए गिद्धों में परस्पर चातुरी और प्रवञ्चना की चोटें चलने लगीं। उनका वर्णन भी भारत का इतिहास नहीं माना जा सकता। इसके बाद अँगरेज़ों का शासन शुरू होता है। वह पाँच-पाँच वर्ष के हर एक लाट के शासन में बँटा हुआ शतरंज के समान विचित्र है। भारतवर्ष का यह इतिहास हमारे किसी काम का नहीं।

सब देशों के इतिहास एक ही ढँग के होने चाहिएँ—यह कुसंस्कार है। इस कुसंस्कार को छोड़े बिना काम नहीं चल सकता। भारतवर्ष के राष्ट्रीय दफ़्तर से उसके राजाओं की वंशावली और जय-पराजय के कागज़-पत्र न पाकर जो लोग निराश हो जाते हैं और कहने लगते है कि "जहाँ राजनीति नहीं, वहाँ इतिहास का क्या ज़िक्र?" वे सचमुच ही धान के खेत में बैंगन ढूँढ़ने जाते हैं और वहाँ बैंगन न पाकर धान

की गिनती अन्न में ही नहीं करते। राष्ट्रीय मामलों में भारतवर्ष को औरों से हीन समझ लेने पर भी अन्य ओर दृष्टि डालने से वह हीनता ज़रा भी नहीं खटकती। उसी ओर से—अर्थात् अपने घर की ओर से भारतवर्ष को न देखकर, हम लोग लड़कपन से ही उसे छोटा समझते हैं और आप भी छोटे बनते हैं। अंग्रेज़ का बच्चा जानता है कि उसके बाप दादाओं ने अनेक युद्धों में जय-लक्ष्मी प्राप्त की है; इसी से वह भी अपने को रणगौरव, धनगौरव और राज्यगौरव के योग्य बनाना चाहता है और हम क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि हमारे बापदादे बिलकुल ही असभ्य, कायर और मूर्ख थे; उन्होंने न कभी किसी युद्ध में विजय-वैजयन्ती उड़ाई, न किसी देश पर अधिकार जमाया और न अपने देश की उन्नति ही की। हमको यही जानने के लिये शायद यह भारत का इतिहास है। हमारे बापदादाओं ने क्या किया सो तो हम कुछ भी नहीं जानते। फिर अब हम क्या करें? बस, औरों की नकल!

हम इसके लिए दोष किसे दें? लड़कपन से हम जिस ढंग की शिक्षा पाते हैं, उससे शिक्षा के पहले ही दिन से, देश के साथ जो हमारा हार्दिक सम्बन्ध है, वह विच्छिन्न होता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि धीरे-धीरे हम देश के विरोधी और विद्रोही बनते चले जाते हैं।

हमारे देश के सुशिक्षित कहलाने वाले उपाधिधारी लोग भी नासमझों की तरह, दूसरों के स्वर में स्वर मिलाकर

बारबार कह उठते हैं कि देश तुम किसे कहते हो ? हमारे देश में यह 'स्वदेश' की विशेषता कब थी, और इस समय भी कहाँ है ?

इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना सहज नहीं। इसका कारण यही है कि वह बात इतनी सूक्ष्म और इतनी बड़ी है कि केवल युक्ति और अल्प तर्क से समझी या समझाई नहीं जा सकती। यह देशी भाव एक प्रश्न के उत्तर में दो चार बातें सुन लेने से समझ में नहीं आ सकता। भारत में लेक्चर सुनकर ही कोई देशी भाव को नहीं ग्रहण करता था। वह तो बचपन ही से हमारे ज्ञान के भीतर, हमारे प्रेम के भीतर, हमारी कल्पना के भीतर अनेक अलक्ष्य मार्गों से अनेक आकार धारण कर के प्रवेश करता था। इस देशी भाव का नियम ही यह है कि वह इसी तरह ज्ञान, प्रेम और कल्पना में प्रवेश करके अपनी विचित्र जादूभरी शक्ति से, चुपचाप छिपे-छिपे हृदय-संगठन करता है—अतीत के साथ वर्त्तमान का विच्छेद नहीं होने देता। इसी की कृपा से हम अब भी बड़े हैं, हम अब भी मरे नहीं, जीवित हैं।

भारतवर्ष की प्रधान सार्थकता या देशी भाव क्या है ? इस प्रश्न का जो स्पष्ट उत्तर हो सकता है, उसका समर्थन भारतवर्ष का सच्चा इतिहास ही करेगा। भारत की सदा से यही चेष्टा देखी जाती है कि वह अनेकता में एकता स्थापित करना चाहता है, वह अनेक मार्गों को एक ही लक्ष्य की ओर अभिमुख करना चाहता है। वह बहुत के बीच किसी एक को निस्संशय-रूप से, अन्तरतर-रूप से उपलब्ध करना चाहता है।

उसका सिद्धान्त या उद्देश्य यह है कि बाहर जो विभिन्नता देख पड़ती है उसे नष्ट न करके, भीतर जो निगूढ़ संयोग देख पड़ता है, उसे प्राप्त करना चाहिये।

ऐक्य को प्रत्यक्ष करने या ऐक्य-विस्तार करने की यह चेष्टा भारत के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और अन्य लोगों की अपेक्षा सहज भी है। भारत के इसी स्वभाव ने उसे सदा से राष्ट्र-गौरव की ओर से उदासीन बना रखा है। राष्ट्र-गौरव की जड़ है विरोध का भाव। जो लोग गैर को गैर ही नहीं समझ सकते, अथवा यों कहिये कि गैर के प्रति सहानुभूति-शून्य ही नहीं हो सकते, वे राष्ट्र-गौरव की प्राप्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य कभी नहीं मान सकते। दूसरे के विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा ही राजनैतिक उन्नति की नींव है। इसी तरह दूसरे के साथ अपने सम्बन्ध-बन्धन तथा अपने भीतर के विचित्र विभागों और विरोधों में सामञ्जस्य स्थापन की चेष्टा ही धर्मनीति की और समाज की उन्नति की नींव है। लोग यूरोप के ऐक्य की प्रशंसा करते हैं, पर वे नहीं जानते कि यूरोप की सभ्यता ने जिस एकता को पसन्द किया है वह विरोध-मूलक है, और भारतवर्ष की सभ्यता ने जिस एकता को पसन्द किया है वह मिलन-मूलक है। यूरोप के राजनैतिक एकता के भीतर विरोध की फाँस मौजूद है। वह फाँस यूरोप को दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर सकती है, किन्तु उसके भीतर सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकती। वोट-भिखारिणी रमणियों के उपद्रव और आयर्लैण्ड को मिलने वाले स्वराज्य के विरुद्ध होने वाली घटनाओं पर विचार-पूर्वक

ध्यान देने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है। राजनैतिक एकता के भीतर विरोध वर्त्तमान रहने के कारण राजनीति-शास्त्र के प्रेमी यूरोप में व्यक्ति-व्यक्ति में, राजा-प्रजा में, धनी-निर्धन में विच्छेद और विरोध का भाव प्रबल रूप से बना रहता है। यह समझना सरासर भूल है कि उन सब ने मिलकर अपने-अपने निर्दिष्ट अधिकार के द्वारा सारे समाज को संयत कर रक्खा है। वे सब एक दूसरे के प्रतिकूल आचरण करने में जरा भी संकोच नहीं करते। वहाँ हर एक पक्ष या दल की हर घड़ी यही चेष्टा रहती है कि दूसरे पक्ष या दल का बल किसी तरह बढ़ न जाय। जहाँ सब मिलकर आपस में धक्कमधक्का करते हैं वहाँ बल का सामञ्जस्य हो ही नहीं सकता। यह परिणाम राजनीति-प्रेम का अवश्यंभावी फल है। कुछ दिनों से यहाँ भी यूरोप की देखादेखी राजनीति-प्रेम बढ़ जाने के कारण, हिन्दू-मुसलमानों के लाख मेल चाहने पर भी, उनमें परस्पर विरोध ही बढ़ता जाता है। कारण यही है कि विरोध जिसका बीज है और विरोध ही जिसकी खाद है उसका फल भी, विरोध के सिवा मेल कभी नहीं हो सकता। उस राजनीति-प्रेम के बीच में जो परिपुष्ट पल्लवित व्यापार देख पड़ता है, वह इसी विरोध-फल का बलवान् वृक्ष है।

मगर, भारत ने विसदृश को भी सम्बन्ध के बन्धन में बाँधने की--अपने में संयुक्त करने की-चेष्टा की है। सभी एक हो जायँ—ऐसा एक कानून जारी कर देने से सब एक नहीं हो सकते। जो एक होने वाले नहीं, उनमें सम्बन्ध स्थापित करने का एक मात्र उपाय यही है कि उनको उनके भिन्न-भिन्न

अधिकारों में अलग अलग स्थापित कर दिया जाय। जो अलग ही है, उसे बलपूर्वक एक बनाने से कभी न कभी वह अवश्य ही विच्छिन्न हो जाता है। उस विच्छेद के समय बड़ा अनर्थ–घोर अनिष्ट–हो जाया करता है। हमारा भारत, मिलाने अर्थात् एक करने के इस नियम या रहस्य को अच्छी तरह जानता था। इसका उपाय भी उसने निराला ही निकाला था। भारत ने समाज की परस्पर प्रतियोगिनी या विरोधिनी सारी शक्तियों को सीमाबद्ध और विभक्त करके समाज-कलेवर को अखण्ड अतएव सर्वशक्तिमान् बना दिया था। उस ने अपने अधिकार का क्रमशः उल्लंघन करने की चेष्टा करके विरोध-शृंखला उपस्थित करने का अवसर ही नहीं दिया। उसने परस्पर की प्रतियोगिता (चढ़ा-ऊपरी) के मार्ग में ही समाज की सारी शक्तियों को एकत्र कर के और उन्हें लड़ा-भिड़ा कर धर्म, कर्म, गृहस्थाश्रम को आवर्तित, आन्दोलित, कलुषित और उद्भ्रान्त बना देने की स्वतन्त्रता कभी किसी को नहीं दी।

विधाता भारतवर्ष में विविध प्रकार की विभिन्न और विचित्र जातियों को खींच लाया है। इससे कोई हानि नहीं। भारतवर्ष की आर्य्य जाति ने गैर को भी अपना बना लेने की शक्ति पाई है। उस शक्ति की चर्चा और प्रयोग करने का अवसर भी उसे प्राचीन काल से ही प्राप्त है। ऐक्य-मूलक सभ्यता को मनुष्य-जाति की चरम सभ्यता कहना चाहिए। उसकी नींव, विचित्र उपकरणों द्वारा चिरकाल से भारतवर्ष ही डालता आया है। गैर कह कर उसने किसी को अपने से दूर

नहीं किया, अनार्य्य कह कर उसने किसी को अपने घर से बाहर नहीं निकाला, असंगत कह कर उसने किसी की हँसी नहीं उड़ाई। भारत ने सबको ग्रहण कर लिया—सब कुछ स्वीकार कर लिया। इतना ग्रहण करके भो भारतवर्ष यह नहीं भूला कि आत्मरक्षा के लिए, इस समूह के भीतर हर एक को अपना अधिकार, अपनी व्यवस्था, अपनी शृंखला स्थापित करने की आवश्यकता है। सामग्री चाहे जहाँ की हो, यह शृंखला—यह व्यवस्था—भारतवर्ष की ही है।

यूरोप, ग़ैर को दूर करके—उत्सन्न करके—अपने समाज को निरापद रखना चाहता है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और केप कालोनी में आज तक हम इसी का परिचय पा रहे हैं। यूरोप की इस लालसा का कारण भी है। कारण यही है कि उसके निज के समाज में एक सुविहित शृङ्खला का भाव नहीं है। वह अपने ही भिन्न भिन्न सम्प्रदायों को समाज में यथोचित स्थान नहीं दे सकता। उसके समाज के जो अंग हैं, उनमें से अनेक ऐसे हैं जो समाज के लिये भार हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में वह बाहर के लोगों को अपने समाज में किस जगह स्थान दे सकता है? जहाँ घर के ही लोग हिस्से-बाँट के लिये उपद्रव मचा रहे हैं, वहाँ बाहर के आदमी को कहाँ जगह मिल सकती है? जिस समाज में शृङ्खला है, ऐक्य का विधान है, सबके लिए अलग-अलग स्थान और अधिकार है, वही समाज सहज में दूसरे को अपना बना सकता है। या तो दूसरे को मार काट कर, भगाकर, अपने समाज और सभ्यता की रक्षा की जा सकती है और या दूसरे को अपने नियमों से

संयत बनाकर, सुविहित शृङ्खला में उसके लिये स्थान देकर। यूरोप ने इनमें से पहली प्रणाली पसंद कर सारे संसार के साथ विरोध का द्वार खोल रक्खा है। परन्तु भारतवर्ष ने दूसरा ढंग पसन्द कर क्रमशः धीरे-धीरे सबको अपना कर लेने की चेष्टा की है। यदि शान्ति-धर्म पर श्रद्धा हो, यदि धर्म ही मानुषी सभ्यता का चरम आदर्श माना जाय, तो भारतही का ढंग श्रेष्ठ और अच्छा कहा जा सकता है।

पराए को अपना कर लेने में प्रतिभा की ज़रूरत हुआ करती है। अन्य के भीतर प्रवेश करने की शक्ति और अन्य को सम्पूर्ण रूप से अपना बना लेने की करामात ही प्रतिभा का सर्वस्व, प्रतिभा की खूबी, है। भारतवर्ष में हम वही प्रतिभा विद्यमान पाते हैं। भारत ने बिना संकोच के अन्य के भीतर प्रवेश किया है और अनायास ही अन्य की सामग्री को अपने ढंग पर अपना लिया है। विदेशी लोग जिसे मूर्ति-पूजा कहते हैं उसे देखकर भारतवर्ष डरा नहीं, उसने देखकर नाक-भौं नहीं सिकोड़ी, भारतवर्ष ने पुलिन्द, शवर, व्याध आदि से भी बीभत्स सामग्री ग्रहण करके उसे शिव (कल्याण) बना लिया है—उसमें अपना भाव स्थापित कर दिया है—उसके भीतर भी अपनी आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त कर दिखाया है। भारत ने कुछ भी नहीं छोड़ा, सबको ग्रहण करके अपना बना लिया है।

भारत का यह ऐक्य-विस्तार और शृङ्खला-स्थापन केवल समाज की व्यवस्था ही में नहीं, धर्मनीति में भी देखा जाता है। गीता में ज्ञान, प्रेम और कर्म के बीच सामञ्जस्य स्थापित

करने की जो चेष्टा देख पड़ती है वह भी विशेष रूप से भारतवर्ष ही की है। हमारे बुद्धि-विश्वास, आचरण, हमारे इह-लोक और पर-लोक सबमें 'धर्म' का धागा पिरोया हुआ है। भारत ने नित्य और नैमित्तिक कर्म मानकर भी उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं माना। भारत का जो धर्म है वह उसके सारे समाज का धर्म है। उसका मूल पृथ्वी के नीचे है और सिर आकाश के भीतर। भारत ने उसके सिर और पैरों को अलग-अलग नहीं देखा। भारत ने धर्म को द्युलोक-भूलोक-व्यापी; मनुष्य के सारे-जीवन में व्याप्त, एक महान वनस्पति के रूप में देखा है।

भारत के सच्चे इतिहास से यही सिद्ध होगा कि पृथ्वी के सारे सभ्य समाजों में भारतवर्ष ही 'अनेक को एक करने' का आदर्श बनकर विराजमान है। भारत ने अनेक प्रकार की बाधा-विपत्ति और दुर्गति-सुगति में, विश्व में और अपनी आत्मा में, 'एक' का अनुभव करके उस एक को अनेक में स्थापित किया है—ज्ञान के द्वारा उसका आविष्कार करके, कर्म के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा, प्रेम के द्वारा उसकी उपलब्धि और जीवन के द्वारा उसका प्रचार किया है। हम अपने सच्चे इतिहास में ध्यान लगाकर, जब भारत में इस सनातन भाव का अनुभव करेंगे, तब 'अतीत' के साथ 'वर्त्तमान' का विच्छेद मिट जायगा।

———

शिक्षा का हेर फेर

(श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

——:o:——

जो कुछ अत्यावश्यक या बहुत ज़रूरी है, उसी की लपेट में पड़े रहना मानव-जीवन का धर्म नहीं। हम लोग कुछ तो आवश्यक शृंखला में बँधे रहते हैं और कुछ स्वाधीन रहते हैं। हमारी देह साढ़े ही तीन हाथ की है; किन्तु साढ़े ही तीन हाथ का घर बनाने से हमारा काम नहीं चल सकता। उसमें स्वाधीनता-पूर्वक चलने-फिरने के लिये लम्बी चौड़ी जगह रखनी पड़ती है; नहीं तो हमारे सुख और स्वास्थ्य में बाधा पड़ती है—हम तन्दुरुस्त और प्रसन्न नहीं रह सकते। शिक्षा के विषय में भी यही बात है। केवल आवश्यक शिक्षा के घेरे के भीतर बालक-बालिकाओं को कैद कर रखने से उनका मन यथेष्ट विकसित नहीं होने पाता। अत्यावश्यक शिक्षा के साथ-साथ यदि स्वाधीन पाठ न पढ़ाये जायँ—और और बातें न सिखाई जायँ—तो बालक अच्छी तरह से मनुष्य नहीं होने पाते। बड़े हो जाने पर भी वे एक तरह से बालक ही रह जाते हैं।

दुर्भाग्यवश हमारे लिये समय का सुभीता नहीं। जितनी जल्दी बन सकता है, विदेशी भाषा सीखकर और उसमें उत्तीर्ण होकर हमें काम करना पड़ता है। इसी लिए बचपन

से हमें—सिवा इसके कि यहाँ-वहाँ देखे बिना घुड़दौड़ के घोड़ों की तरह दौड़ते जाँय, पाठ कण्ठ करने में पीछे न रह जाँय—और किसी भी बात के लिए समय नहीं मिलता। यही कारण है कि बच्चों के हाथ में पाठ्य पुस्तकों के सिवा यदि कोई दूसरी मनोरंजक अथवा उपयोगी पुस्तक देखी जाती है, तो वह उसी समय छीन ली जाती है।

और मनोरंजक पुस्तकें मिल भी कहाँ सकती हैं? एक तो हमारी भाषा में इस प्रकार की पुस्तकें ही नहीं, और जो एक दो हैं भी, उनका होना न होना बराबर है; क्योंकि हमारे बच्चों को उनकी मातृ-भाषा इस तरह सिखाई ही नहीं जाती कि वे अपनी इच्छा के अनुसार घर बैठकर मातृ-भाषा के किसी काव्य का वास्तविक स्वाद पा सकें। वे बेचारे अँगरेज़ी भी इतनी नहीं जानते कि अँगरेज़ी की ही बालोपयोगी पुस्तकों में प्रवेश कर सकें।

बात यह है कि विधाता ने हमारे देश के बालकों के भाग्य में अँगरेज़ी व्याकरण, कोश और भूगोल-विद्या को छोड़कर और कुछ लिखा ही नहीं। इनके समान अभागा शायद ही और कोई हो। और-और देश के बालक जिस उम्र में अपने नवोद्गत दाँतों से प्रसन्नता-पूर्वक गन्ना चूसते हैं, उसी उम्र में हमारे बच्चे स्कूल की बेंचों पर बैठकर, अपने छोटे-छोटे दुर्बल पैर हिलाहिला कर, केवल ऐसे बेंत हजम करते हैं, जिनमें मास्टर साहब की कटु गालियों के सिवा और किसी प्रकार का सुस्वादु मसाला नहीं मिला रहता। फल इसका यह होता है कि शारीरिक, मानसिक, दोनों ही

प्रकार के खाद्य हजम करने की शक्ति कम हो जाती है। इस यन्त्र की दुर्बलता का ही यह फल है कि यद्यपि हम बड़ी-बड़ी बी० ए०, एम० ए० की पदवियाँ पा लेते हैं और ढेर की ढेर पुस्तकें निगल जाते हैं तथापि हमारी बुद्धि यथेष्ट बलिष्ठ और परिपक्व नहीं होती। न तो हम किसी विषय को अच्छी तरह समझ ही सकते हैं और न आदि से अन्त तक किसी विषय की उत्तम रचना ही कर सकते हैं। हमारे मतामत, बातचीत और आचार--विचार स्वाधीन और परिपक्व नहीं होते। इसी से हम अपनी इस मानसिक दुर्बलता को अत्युक्ति, आडम्बर और उछल-कूद के द्वारा ढँकने की चेष्टा किया करते हैं।

इसका प्रधान कारण यही है कि बचपन से हमारी शिक्षा के साथ आनन्द का मेल नहीं रहता। हम केवल वही कण्ठस्थ किया करते हैं जो बहुत ही आवश्यक होता है। ऐसा करने से हमारा काम तो किसी तरह चल जाता है; किन्तु हमारी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। यद्यपि हवा खाने से पेट नहीं भरता, भोजन करने से ही पेट भरता है; परन्तु भोजन को अच्छी तरह पचाने के लिए हवा खाने की भी ज़रूरत रहती है। इसी प्रकार किसी शिक्षा-पुस्तक को भली भाँति पचाने के लिए—आत्म-सात् करने के लिए—दूसरी आनन्द-जनक पुस्तकों की सहायता की भी आवश्यकता रहती है; क्योंकि आनन्द-लाभ के साथ ही साथ, पढ़ने से पढ़ने की शक्ति अलक्षित भाव से—बिना जाने ही—

बढ़ती रहती है और धारणा तथा विचार-शक्ति सहज ही बलवती होती रहती है।

किन्तु बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी हम यह नहीं समझ सकते कि इस मानसिक शक्ति को क्षीण करने वाली निरानन्दमयी शिक्षा के हाथ से हमारे बालकों का छुटकारा कैसे होगा ?

एक तो अँगरेजी भाषा बिलकुल ही विजातीय भाषा है। हमारी भाषा के शब्द-विन्यास से उसका जरा भी मेल नहीं। भाव-विन्यास तथा विषय-प्रसंग भी उसका विदेशी है। उसकी बातों से हम अपरिचित हैं। इससे धारणा-शक्ति उत्पन्न होने के पहले ही हमें कण्ठस्थ करने का प्रारम्भ करना पड़ता है। तब हमारी वही दशा होती है जो किसी अन्न को बिना चबाये ही निगल जाने वाले की होती है।

नीचे की क्लासों में जो मास्टर पढ़ाते हैं, प्रायः उनमें से कोई तो एण्ट्रेंस पास होते हैं और कोई एण्ट्रेंस फेल। अँगरेजी-भाषा, भाव, आचार--व्यवहार और साहित्य से उनका भली भाँति परिचय नहीं होता। बालकों को सिखलाने की अपेक्षा यह भुलाना बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं और इस विषय में इन्हें सफलता भी खूब होती है। छोटी उम्र में जो अँगरेजी सिखाई जाती है, वह इतनी मामूली और इतनी धुँधली होती है कि उससे किसी प्रकार का रस आकर्षण कर लेना बालकों के लिए एक प्रकार से असम्भव ही होता है। रसास्वादन की कोई आशा भी तो नहीं करता। मास्टर भी कहते हैं और विद्यार्थी भी कहते

हैं कि हमें इससे मतलब नहीं; यदि हमने खींच-खाँच कर मतलब निकाल लिया तो बस काम हो गया—आफ़त टल गई। परीक्षा में पास हुए कि आफ़िसों में नौकरियाँ तैयार हैं। शङ्कराचार्य्य के इस फबते हुए वचन का पूरा-पूरा हम अनुसरण करते हैं—

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्"

अर्थात्—अर्थ को सदा अनर्थ समझना, उसमें सुख भी नहीं है और उसमें सत्य भी नहीं है।

तब बालकों के भाग्य में बाकी क्या रह गया? यदि वे केवल देश-भाषा ही सीखते तो उन्हें रामायणादि ग्रन्थ तो पढ़ने के लिये मिलते। यदि कुछ भी न सीखते तो खेलने को तो मिलता। पेड़ों पर चढ़ कर, पानी में तैर कर, फूल तोड़ कर, प्रकृति माता के साथ सैकड़ों उपद्रव कर के शरीर की पुष्टि मन की प्रसन्नता और बाल्य प्रकृति की परितृप्ति तो प्राप्त कर सकते। पर अँगरेजी सीखने से न हुआ सीखना, न हुआ खेलना और न मिला प्रकृति के सत्य राज्य में प्रवेश करने का अवकाश। साहित्य के कल्पना-राज्य में प्रवेश करने का द्वार भी उनके लिये बन्द रहा। हमारे भीतर और बाहर दो उदार और उन्मुक्त विहार-भूमियाँ हैं। परन्तु, हाय! हमारे हतभाग्य बालक इन दोनों मातृ-भूमियों की गोद से जुदा हो कर एक विदेशी कारागार में बेड़ियों से जकड़ कर रक्खे जाते हैं! ईश्वर ने जिनके लिए माता-पिताओं के हृदय में स्नेह का सञ्चार किया है, जननी की गोद को कोमल कर दिया है, और जो आकार में छोटे होने

पर भी सारे गृह की शून्यता को पूर्ण कर देते हैं, उन्हें अपना बाल्यकाल विदेशी भाषा के व्याकरण और कोश की रटन्त में बिताना पड़ता है—जिसमें न जीवन है, न आनन्द है, न अवकाश है, न कोई नवीनता है और न हिलने-डुलने की तिल भर जगह ही है। वे क्या बड़े होने पर अपनी बुद्धि से कोई काम कर सकते हैं, अपना बल लगाकर विघ्न-बाधाओं को दूर कर सकते हैं और अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक को ऊँचा रख सकते हैं? कभी नहीं। वे केवल रटना, नकल करना और गुलामी करना ही सीखेंगे।

इसमें तो जरा भी सन्देह नहीं कि विचार और कल्पना ये दो शक्तियाँ जीवनयात्रा के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। मनुष्य बनने—वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त करने—के लिये इन दो शक्तियों के विना काम ही नहीं चल सकता। यदि हम बाल्यकाल से ही विचार और कल्पना की ओर लक्ष्य न देंगे तो वे काम पड़ने पर हमें तैयार न मिल सकेंगी।

किन्तु, हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में विचार और कल्पना-शक्ति के बढ़ाने का मार्ग प्रायः बिलकुल ही बन्द है। हमें बहुत समय तक केवल भाषा-शिक्षा ही में लगे रहना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अँगरेजी बड़ी ही क्लिष्ट विदेशी भाषा है और हमारे शिक्षक प्रायः इतने अल्प-बुद्धि होते हैं कि हमारे मन में भाषा के साथ साथ भावों का सहज ही प्रवेश नहीं हो सकता। इसी लिए अँगरेजी भावों का थोड़ा सा परिचय पाने के लिये हमें बहुत समय खोना पड़ता है और तब तक हमारी विचारशक्ति अपने योग्य किसी काम

को न पाकर बिलकुल ही निश्चेष्ट और निकम्मी पड़ी रहती है। एंट्रेन्स और फर्स्ट आर्ट्स तक तो हमारा समय केवल साधारण कामचलाऊ अँगरेजी सीखने ही में जाता है। इसके बाद ही एकाएक बी० ए० क्लास में हमारे सामने बड़े-बड़े पोथे और अतिशय विचारसाध्य विषय रख दिये जाते हैं। परन्तु उस समय न तो हमें उनको अच्छी तरह समझने का अवसर ही मिलता है और न हमारी शक्ति ही उन्हें समझने योग्य रहती है। अतएव हमें लाचार होकर, सबको मिला कर और एक बड़ा सा गोला बनाकर, एक ही बार एक ही कौर में उसे निगल जाना पड़ता है।

हम पढ़ते तो बराबर जाते हैं; परन्तु उसके साथ-साथ विचार नहीं करते। हम ईंट चूने के ढेर को ऊँचा तो करते जाते हैं, परन्तु उसे काम के योग्य नहीं बनाते–अर्थात् बुद्धिमानी से उसे उपयोगी मकान के रूप में नहीं चुनते। इस तरह ईंट चूना, रेत, सिमिंट, खम्भे, लोहे आदि का ढेर पर्वत के समान ऊँचा हो जाता है। ठीक इसी समय विद्यालय से हुक्म जारी होता है कि एक तिमंजले मकान की छत तैयार करो। बस, फिर क्या है; तत्काल ही हुक्म की पाबन्दी की जाती है और हम पूर्वोक्त सामग्री के ढेर के शिखर पर चढ़ कर दो ही वर्ष में पीट-पाट कर किसी तरह उसके भाग को समतल या सपाट कर देते हैं, और जब वह ढेर कुछ कुछ छत के समान दिखाई देने लगता है तब कह देते हैं कि लीजिए तिमंजले की छत तैयार हो गई।

यह सच है कि यह जो माल-मसाला इकट्ठा किया गया है वह बहुत है। मानसिक अट्टालिका बनाने के लिए इतनी ईंट, चूना, रेत, सिमिंट आदि पहले हमें नहीं मिलता था। परन्तु यह समझ लेना बड़ी भारी भूल है कि संग्रह करना सीख लेने से ही किसी को निर्माण करना भी आ जाता है। वास्तव में जब संग्रह और निर्माण दोनों साथ-साथ चलते हैं और क्रम-क्रम से धीरे-धीरे होते रहते हैं तभी काम पक्का होता है। अर्थात् जब संग्रह योग्य सामग्री हाथ में है तब उसका उपयोग जानना, उसका वास्तविक परिचय प्राप्त करना और जीवन के साथ आश्रयस्थल भी खड़ा कर देना—यही सच्ची शिक्षा है। किन्तु हमारे देश में ठीक इससे उल्टा हो रहा है। यहाँ मनुष्य बढ़ता है एक ओर को और उसकी विद्या बढ़ती है किसी और ही ओर को। एक ओर तो इतना खाद्य इकट्ठा हो रहा है कि भाण्डार में रखने को जगह नहीं और दूसरी ओर इतनी भूख बढ़ रही है कि पाकयन्त्र अपनी जठराग्नि से अपने को ही जीर्ण कर रहा है। इस तरह हमारे देश में एक अभूतपूर्व लीला हो रही है।

अतएव यदि बालकों को मनुष्य बनाने की इच्छा हो तो बालपनसे ही उन्हें मनुष्य बनाना प्रारम्भ करो; नहीं तो वे बालक ही रह जायँगे; मनुष्य न बन सकेंगे। बालकपन से स्मरण-शक्ति के ऊपर सारा बोझ न लाद कर बालकों को अपनी विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति बढ़ाने का भी मौका देना चाहिये। जिस तरह खेत बोने योग्य करने के लिये सबेरे से शाम तक केवल हल चलाना और मिट्टी के ढेले फोड़ना ही

काफी नहीं, उसी तरह इस मानवजन्म को कार्य्य-योग्य करने के लिये—इस दुर्लभ खेत को खूब उपजाऊ बनाने के लिए—केवल रटना और परीक्षा पास करना ही यथेष्ट नहीं। इस सूखी मिट्टी के साथ इस अविश्रान्त कर्षण और पीड़नके साथ साथ—कुछ रस भी होना चाहिए। क्योंकि, मिट्टीमें जितना ही अधिक रस होगा उतना ही अच्छा धान्य भी होगा। इसके सिवा कुछ मौके ऐसे हैं जिनमें खेत के लिए वर्षा की बहुत ही जरूरत होती है। उन मौकों के निकल जाने पर हज़ार वृष्टि होने पर भी फिर वैसा लाभ नहीं होता। वयोविकास के समय जीवन की परिणति और सरसता साधने के लिए सजीव भावों और कल्पनाओं की बड़ी ही जरूरत होती है। इस समय यदि साहित्य के आकाश से एक अच्छी वर्षा हो जाती है तो सारा काम बन जाता है। किन्तु इस समय यदि वे शुष्क धूलि और तप्त बालुका से—केवल नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोश से ढँक जाते हैं—तो पीछे मूसलधार वर्षा होने पर भी—यूरोपीय साहित्य के नये-नये सजीव सत्यों की, विचित्र कल्पनाओं की और उच्च भावों की वृष्टि होने पर भी—वे यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। साहित्य की अन्तर्निहित जीवनी-शक्ति उनके जीवन पर सहज भाव से प्रकाश नहीं डाल सकती।

किन्तु, हमारी नीरस शिक्षा के कारण जीवन का यह माहेन्द्र योग व्यर्थ चला जाता है। हम थोड़ी सी रटी-रटाई बातों का बोझा खींचते हुए बालपन से कैशोर और किशोरावस्था से यौवन में प्रवेश करते हैं। सरस्वती के साम्राज्य में

हम केवल मजदूरी कर करके मरते हैं। रटते-रटते हमारी कमर झुक जाती है; परन्तु हमारे मनुष्यत्व का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो पाता। आगे जब हमारा प्रवेश अँगरेजी के भावराज्य में होता है तब वहाँ भी हम तन्मय होकर विहार नहीं कर पाते। यद्यपि उन भावों को हम एक प्रकार से समझ लेते हैं; तथापि उन्हें अपने हृदय पर अच्छी तरह खचित नहीं कर सकते। उन्हें हम अपने व्याख्यानों और लेखों में व्यवहार करते हैं, किन्तु जीवन के कार्य्य में परिणत नहीं कर सकते। अर्थात् वे भाव हमारे बाहर ही बाहर रह जाते हैं; अन्तरङ्ग के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता।

इस तरह लगातार बीस बाईस वर्ष तक हम जिन भावों को सीखते हैं उनका हमारे जीवन के साथ रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इस कारण हमारा मन एक अद्भुत ही स्वरूप धारण कर लेता है। हमारे इन सीखे हुए भावों में से कुछ भाव तो बाहर से जोड़े और चिपकाये हुए होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो काल पाकर उड़ जाते हैं। जब हमें बालपन ही से भाषा-शिक्षा के साथ साथ भाव-शिक्षा दी जाय और भावों के साथ ही साथ हमारी जीवन-यात्रा भी नियमित होती रहे—अर्थात् उन भावों का हमारी जीवनचर्या पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ता रहे—तभी हमारे समस्त जीवन में वास्तविक सामंजस्य स्थापित हो सकता है; हम सहज ही जैसे चाहिए वैसे मनुष्य बन सकते हैं और भाषा, भाव, जीवन आदि सभी विषयों को समुचित परिमाण में रख सकते हैं।

जब हम एक बार अच्छी तरह से विचार करके देखेंगे कि हमें जिस भाव या जिस ढंग से जीवन निर्वाह करना है उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है। हमें जिस घर में मरणपर्यन्त निवास करना है उस घर का उन्नत चित्र हमारी पाठ्यपुस्तकों में नहीं है। जिस समाज में हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई भी उच्च आदर्श हमारे शिक्षणीय साहित्य में नहीं पाया जाता। हम अपने माता-पिताओं को, भाई-बहनों को, बन्धुबान्धवों को उसमें प्रत्यक्ष नहीं देख पाते, हमारे दैनिक कार्यकलाप उसमें स्थान नहीं पाते, हमारे आकाश और पृथ्वी, हमारे निर्मल प्रभात और सुन्दर सान्ध्यकाल और हमारे हरे-भरे शस्यक्षेत्र उसमें दिखाई नहीं देते, तब हम समझ सकेंगे कि हमारी शिक्षा के साथ हमारे जीवन के मिश्रण की कोई सम्भावना नहीं है—दोनों के बीच में बड़ा भारी अन्तर अवश्य रहेगा, हमारी शिक्षा से हमारे जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कभी न हो सकेगी। हमारे जीवन की दीवार जिस जगह खड़ी है उससे सैकड़ों हाथ की दूरी पर हमारी शिक्षा की वृष्टि—धारा पड़ती है। हम जिस शिक्षा में अपना सारा जन्म व्यतीत करते हैं वह हमें केवल बाबूगरी या ऐसे ही और किसी व्यवसाय के योग्य बना देती है। इससे अधिक वह हमारी कोई भलाई नहीं करती। आठ पहर के दैनिक जीवन में हम उसका कोई उपयोग नहीं करते। यह सब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की कृपा है। इसके लिये छात्रों को दोष देना अन्याय है, उन बेचारों का इसमें कोई दोष नहीं। क्योंकि उनका ग्रन्थ-जगत् एक प्रान्त में रहता है और निवास-

जगत् दूसरे प्रान्त में, इसी लिए हमें यह देख कर जरा भी आश्चर्य नहीं होता कि हमारे देश का जो पुरुष यूरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का अच्छा पण्डित है, वही पुराने कुसंस्कारों का, झूठे अन्धविश्वासों का—यत्न पूर्वक पोषण कर रहा है; जो विचित्र भावपूर्ण साहित्य का स्वाधीनता पूर्वक उपभोग करता है वही अपने जीवन के भावों को उच्च शिखर पर आरूढ़ नहीं कर रहा है, केवल धन कमाने और सांसारिक उन्नति के साधनों में व्यस्त हो रहा है। ऐसे लोगों का विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य अन्तर पड़ रहा है, जिसके कारण ये दोनों कभी अच्छी तरह नहीं मिल सकते।

इसका फल यह होता है कि ये दोनों एक दूसरे से उत्तरोत्तर अधिकाधिक विरुद्ध होते जाते हैं। हमारी सीखी हुई विद्या से हमारा जीवन या व्यवहार बराबर प्रतिवाद करता हुआ चलता है। इससे उस विद्या के विषय में शुरू से ही अश्रद्धा और अविश्वास उत्पन्न होता रहता है। हम समझने लगते हैं कि यह विद्या एक प्रकार का भ्रम हैं और सारी यूरोपीय सभ्यता इसी के ऊपर प्रतिष्ठित है। परन्तु हमारा जो कुछ है वह सभी सत्य है। हम यह तो नहीं समझते कि हमारे दुर्भाग्य से किसी कारण विशेष से ही हमारी शिक्षा हमारे लिये निष्फल हो रही है, किन्तु उलटा यह विश्वास कर लेते हैं कि उस शिक्षा के भीतर ही निष्फलता का स्वाभाविक कारण मौजूद है। इस तरह हम अपनी शिक्षा के प्रति जितनी ही अधिक अश्रद्धा करते हैं, हमारी शिक्षा भी हमारे जीवन के प्रति उतनी ही विमुख होती जाती है। हमारे चरित्र पर वह

अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल सकती। इस प्रकार के असम्पूर्ण जीवन और असम्पूर्ण ज्ञान से भारतवासियों की संसार-यात्रा एक हास्यपूर्ण प्रहसन का रूप धारण कर रही है।

अब यह बतलाइए कि जिस शिक्षा के लिए हमने अपने जीवन का एक तिहाई समय खो दिया वही यदि हमारे जीवन से कुछ भी सम्पर्क न रक्खे और दूसरे प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने से भी हमें ंचित कर दे तो हमारे उद्धार का और क्या उपाय है ?

अतएव, इस समय हमारे लिए सब से अधिक विचारणीय और महत्व का विषय यही है कि हमारी शिक्षा के साथ हमारे जीवन का सामञ्जस्य कैसे स्थापित हो ?

हमारी मातृभाषा और मातृभाषा-साहित्य, यही दो इस सामञ्जस्य को कर सकते हैं ; अँगरेजी हमारे काम की भाषा हो सकती है, किन्तु भाव-प्रकाश करने की भाषा नहीं है। भारतवासी अँगरेज़ी भाषा के साथ अपने हृदय को इस तरह एक नहीं कर सकते कि वे उसके द्वारा साहित्य के स्वाधीन भावोच्छ्वास प्रकाशित कर सकें। यदि कदाचित् अँगरेज़ी भाषा से उनका वैसा घनिष्ठ ऐक्य हो भी जाय, तो भी यह निश्चित है कि भारतीय भाव अँगरेज़ी भाषा में वैसे सजीव-रूप में प्रकाशित नहीं हो सकते जैसे हमारी देश भाषाओं में होते हैं। जो विशेष-विशेष माधुर्य और विशेष-विशेष भाव अपने प्रकाशन के लिए हमें उत्तेजित करते हैं और जिन सब संस्कारों या विश्वासों ने हमारे मनों को वंशपरम्परा से एक विशेष साँचे में

ढाल रक्खा है, वे विदेशी भाषा में स्वच्छन्दता पूर्वक प्रकाशित नहीं हो सकते।

हमारे शिक्षित युवक जब अपने भावों के प्रकाशन की इच्छा करते हैं तब मातृभाषा का अवलम्बन करते समय उनके हृदय में एक प्रकार की कातरता उत्पन्न होती है।

इस देश का बड़ा भारी दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि ये नवयुवक गर्व छोड़कर अपनी भाषा से सम्पर्क नहीं रखते। यहाँ तक कि ये मातृभाषा में कभी चिट्ठी भी नहीं लिखते, इष्ट मित्रों से मिलते समय भी जहाँ तक बनता है, अँगरेजी ही बोलते हैं और देश-भाषा के ग्रन्थों को अवज्ञापूर्वक गृह से भी निकाल बाहर कर देते हैं। इसी को कहते हैं लघु पाप का गुरु दण्ड।

ऊपर कहा जा चुका है कि बाल्यकाल की शिक्षा में तो हम भाषा के साथ भाव नहीं पाते और जब वह काल निकल जाता है तब उसका ठीक उलटा होता है, अर्थात् उस समय जब भाव उदित होते हैं तब भाषा नहीं मिलती। इस बात का भी पहले उल्लेख हो चुका है कि भाषा-शिक्षा के साथ ही साथ हमें भाव-शिक्षा नहीं मिलती; इस लिए यूरोपीय भावों का हमसे निकट-संसर्ग नहीं होता और इसी से आज कल के अनेक शिक्षितों ने यूरोपीय भावों के प्रति अनादर प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है। इसके सिवा वे भावों के साथ-साथ अपनी मातृ-भाषा से भी दृढ़ सम्बन्ध नहीं कर सकते। इससे वे मातृ-भाषा से भी दूर जा पड़े हैं और उसके प्रति उनके हृदय में एक प्रकार की अवज्ञा हो गई है। इस

बात को तो वे स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करते कि हम अपनी मातृभाषा नहीं जानते, किन्तु यह कह कर अपनी दुर्बलता को ढँकते हैं कि 'हमारी मातृभाषा के द्वारा क्या हृदय के पूरे-पूरे भाव कभी प्रकाशित किये जा सकते हैं? हम लोगों के शिक्षित मनों के काम की यह भाषा नहीं।" असल बात यह है कि अंगूरों को अपनी शक्ति के बाहर समझ कर हम प्रायः उन्हें खट्टा बतला दिया करते और उनकी उपेक्षा किया करते हैं।

चाहे जिस ओर से और जिस प्रकार से देखा जाय, यह निर्विवाद है कि हमारे भाव, भाषा और जीवन के बीच सामञ्जस्य नहीं। इन तीनों की अखण्ड एकता का सुफल हमें प्राप्त नहीं। एक दरिद्र भिक्षुक था। वह जाड़ों में थोड़ी भिक्षा माँग कर जब तक जाड़ों के वस्त्र खरीदने को समर्थ होता था तब तक गर्मी के दिन आ जाते थे और, गर्मी के दिनों में चेष्टा करके जब तक वह हलका ग्रीष्मोपयोगी वस्त्र खरीदने को समर्थ होता था तब तक जाड़ा आ धमकता था! देवता ने उसकी यह दुर्दशा देख दयार्द्र होकर जब उसे वर देना चाहा तब उसने कहा—"मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल मेरा यह हेर फेर मिटा दीजिए। मैं जो गर्मी के दिनों में जाड़े के वस्त्र और जाड़े के दिनों में गर्मी के वस्त्र पाता हूँ, इस गड़बड़ को यदि आप मिटा दें तो मेरा जीवन सफल हो जाय।"

हमारी भी ईश्वर से यही प्रार्थना है। भाषा और भावसम्बन्धी यह हेर-फेर मिटते ही हम चरितार्थ हो जायँगे। हम शीत में शीत-वस्त्र और ग्रीष्म में ग्रीष्म-वस्त्र नहीं पाते

हैं। इसी लिये हमारी यह सारी दुर्दशा और दरिद्रता है। नहीं तो हमारे पास है क्या नहीं। इस समय हम विधाता से यही वर चाहते हैं कि हमारे लिये केवल क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन एकत्र कर दो—इन्हें जुदा-जुदा न रहने दो। इस समय हमारी यह दशा है:—

पानी में मीन प्यासी।
सुन यह आवे हाँसी॥

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है, यह देखकर संसार तो हँस रहा है और हमारी आँखों से आँसू टपक रहे हैं। क्योंकि पानी पास रहते भी हम लोग उसे नहीं पी सकते।

———

वृष्टि

(श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

चलो नीचे उतरें, आसाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी-छोटी वर्षा की बूँदें हैं। अकेले एकजनी तो जूही की कली का मुँह भी नहीं धो सकती--मल्लिका के छोटे से हृदय को भी नहीं भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, करोड़ों हैं। चाहें तो पृथ्वी को बोर दें। छोटा या क्षुद्र कौन है?

देखो, जो अकेला है वही क्षुद्र है—वही सामान्य है। जिस में एका नहीं है, वही तुच्छ है। देखो बूँदो, कोई अकेले नीचे न उतरना—आधी ही राह में इस प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूख जाओगी—चलो, हम हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतर कर सूखी हुई पृथ्वी को भर दें।

हम पृथ्वी को डुबा देंगी। हमें पर्वत की चोटी पर चढ़ कर उसकी छाती पर पैर रख कर पृथ्वी पर उतरना होगा—झरने के मार्ग में हम मोती का आकार धारण करके निकलेंगी। नदियों के शून्य हृदय को परिपूर्ण करके, उन्हें रूप का वस्त्र पहना कर, महा तरङ्गों से भीषण बाजा बजा कर, लहर के ऊपर लहर उठा कर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ, हम सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु ? छिश ! वायु के कन्धे पर चढ़ कर हम देश-देशान्तर में घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्ध में वायु हमारा घोड़ा है—उसकी सहायता पावें, तो हम जल-थल एकाकार कर दें। हवा की सहायता मिलने से हम बड़े-बड़े घरों को ढहा देने की शक्ति रखती हैं। वायु के कन्धे पर चढ़ कर हम लोगों के घरों के दरवाजों के भीतर घुसती हैं। युवती की बड़े यत्न से बिछाई हुई शय्या को हम भिगो देती हैं—सोती हुई सुन्दरी के ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले नीचे न उतरना। एका ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो-हम क्षुद्र वृष्टि-विन्दु हैं—किन्तु पृथ्वी के प्राणों की रक्षा करेंगी। खेतों में अन्न उपजावेंगी—मनुष्य के प्राणों की रक्षा होगी। नदियों में नावें चलेंगी, मनुष्यों का रोजगार चलेगा। तृण, लता, वृक्ष आदि को पुष्ट करेंगी—पशु पक्षी, कीट पतंग जीवन पावेंगे। हम क्षुद्र वृष्टि-विन्दु हैं, पर हमारे समान कौन है ? हम ही संसार की रक्षा करती हैं।

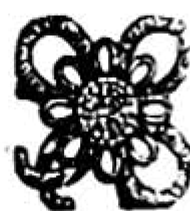
तो फिर ओ नवनील मेघमाला ! ओ वृष्टि-विन्दुओं की जननी ! ओ माता दिङ्मण्डलव्यापिनी ! सूर्यतेजसंहारिणी ! तुम आओ और आकाशमण्डल को घेर लो ताकि हम नीचे उतरें ! आओ वदन सुहासिनी सौदामिनी ! वृष्टि-विन्दुकुल के मुख को उज्वल करो। हम हँसती नाचती हुई पृथ्वीतल पर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुर के मर्मस्थल को काटने वाला वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सव में तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन

है ? तुम भी पृथ्वीतल पर गिरोगी ? गिरो, किन्तु केवल गर्भ से उन्नत मस्तक पर ही गिरना । इस परोपकारी क्षुद्र अन्न के ऊपर मत गिरना । हम इसकी रक्षा करने जाती हैं । गिरना हो, तो इस पर्वत के शिखर पर गिरो । जलाना हो तो इन चोटी पर के पेड़ों को जलाओ । क्षुद्र से कुछ न बोलना हम क्षुद्र हैं, क्षुद्र के लिये हमारे हृदय में बड़ी व्यथा होती है।

देखो, देखो हमें देखकर पृथ्वी पर के लोगों का आह्लाद देखो। पेड़ वगैरह सिर हिला रहे हैं—नदी हिल डुल रही है। बड़े बड़े वृक्ष शिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं । किसान खेत जोत रहा है, लड़के भीग रहे हैं। केवल बनिये की औरत आम का रस लिए भीतर भागी जा रही है । डरपोक कहीं की! दो एक अमरस के टुकड़े रक्खे न जा—हम खायेंगी । दो, इसके कपड़े भिगो दो।

हमने जल की जाति में जन्म पाया है, लेकिन तो भी हम रंग-रस करना जानती हैं । लोगों के छप्पर फाड़ कर घर के भीतर झाँकती हैं—लोग जिस घर में सोए होते हैं, वहाँ छत के छेद से भीतर जाकर उनको चौंका देती हैं । जिस राह में बहू-बेटियाँ कलसी लेकर पानी भरने जाती हैं उसी राह में हम कीचड़ कर रखती हैं । चमेली का पराग धो डाल कर भौंरों को भूखों मारती हैं। नौकर-चाकर कपड़ा धो कर फैलाते हैं तो उसे कीचड़ में डालकर उनका काम बढ़ा देती हैं। हम क्या कम दिल्लगीबाज हैं ? तुम सब चाहे जो कुछ कहो, हम रसिका हैं।

खैर इसे जाने दो, हमारा बल देखो। देखो, पर्वत, कन्दरा, घर-द्वार आदि सबको धोकर हम एक नई ही हरी भरी पृथ्वी की रचना कर देंगी। देखो, शिथिल दुर्बल नदी को कूलप्लाविनी, देश को डुबादेने वाली, अनन्त-तरंग-संकुला, लंबे-चौड़े पाट की जल-राक्षसी बना देंगी। किसी देश के मनुष्यों की रक्षा करेंगी, किसी देश के मनुष्यों का (बढ़िया के द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाजों को ठिकाने पर पहुँचा देंगी और कितने ही जहाजों को डुबा कर ठिकाने लगा देंगी, पृथ्वी को जलमयी बना देंगी। फिर भी हम क्षुद्र हैं? हमारा ऐसा क्षुद्र और कौन है? हमारा ऐसा बलवान् और कौन है?



प्यार का अत्याचार

(श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

लोगों का विश्वास है कि केवल शत्रु अथवा स्नेह, दया, अनुकूलता आदि से रहित व्यक्ति ही हमारे ऊपर अत्याचार करते हैं। किन्तु यह बात हमारे ध्यान में नहीं आती कि उनकी अपेक्षा भी भारी अत्याचार करने वाले एक श्रेणी के लोग हैं। जो प्यार करता है वही अत्याचार करता है। प्यार करने से ही अत्याचार करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। मैं अगर तुमको प्यार करता हूँ तो तुमको मेरा मत मानना पड़ेगा, मेरी बात सुननी पड़ेगी, मेरा अनुरोध रखना पड़ेगा। तुम्हारा इष्ट हो या अनिष्ट, तुमको मेरा मत स्वीकार करना पड़ेगा। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जो प्यार करता है, वह जान-बूझ कर तुम्हारी बुराई के लिए तुमसे अनुरोध नहीं करेगा। किन्तु कौन कार्य मंगलजनक है और कौन अमंगलजनक, इसकी मीमांसा कठिन है। इस बारे में अक्सर दो आदमियों की राय नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में कार्यकर्ता और उस कार्य का फल भोगने वाला इस बात का पूर्ण अधिकारी है कि वह अपने मत के अनुसार ही कार्य करे। उसके मत के विरुद्ध उससे काम कराने का अधिकार केवल

राजा को ही है। केवल राजा ही इस लिए इस बात का अधिकारी है कि हम लोगों ने उसे समाज का हित अहित जानने वाला मान कर राज्यासन पर बिठलाया है। केवल राजा के ही सद्द्विवेक को अभ्रान्त मान कर उसे हमने अपनी प्रवृत्तियों के दमन करने का अधिकार दिया है। जो अधिकार हमने दिया है उसके अनुसार अगर वह कार्य करे तो उससे किसी के ऊपर अत्याचार नहीं हो सकता। परन्तु सब समय और सब विषयों में हमारी प्रवृत्तियों के दमन का अधिकार उसे भी नहीं। हमारे जिस कार्य से वह अन्य के अनिष्ट का अनुमान करे, उस कार्य की प्रवृत्ति को रोकने का ही उसे अधिकार है। जिस कार्य से केवल हमारा ही अनिष्ट वह समझे, उस कार्य की प्रवृत्ति को रोकने का उसे भी कोई अधिकार नहीं है*। जिस से केवल हमारा अनिष्ट है उससे निवृत्त होने की हमें सलाह देने का मनुष्य मात्र को अधिकार है। राजा भी सलाह दे सकता है। किन्तु सलाह के सिवा हमें हमारी मर्जी के खिलाफ चलने के लिये लाचार करने का अधिकार किसी को नहीं है। समाज के सब लोगों को अधिकार है कि वे दूसरे का अनिष्ट न करके हर एक कार्य को अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार संपादित करें। दूसरे का अनिष्ट करने से यह स्वेच्छाचार कहला-

---

* यदि राजा का ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाय तो रोग का इलाज न करने वालों अथवा लड़कपन या बुढ़ापे में ब्याह करने वालों को भी राजदण्ड मिलना चाहिये और अगर अस्वीकार किया जाये, तो सती दाह-निवारण आदि नियमों का समर्थन नहीं किया जा सकता।

येगा और दूसरे का अनिष्ट न होने से इसे स्वानुवर्तिता कहेंगे। जो इस स्वानुवर्तिता में विघ्न डालता है, जो किसी का अनिष्ट न होने के स्थान में भी हमारे मत के विरुद्ध अपने मत को प्रबल करके उसके अनुसार कार्य करता है वही अत्याचारी है। राजा, समाज, और प्रणयी, ये तीन जन इस तरह का अत्याचार किया करते हैं।

राजा के अत्याचार को रोकने का उपाय बहुत दिन पहले निकाला जा चुका है। समाज के इस अत्याचार को रोकने के लिये पूर्वकाल के कुछ पण्डितों ने अस्त्र धारण किया था। इस विषय में जान स्टुअर्ट मिल का यत्न और विचार-निपुणता उनके महात्म्य का परिचय देगी। किन्तु प्यार का अत्याचार रोकने के लिये कभी किसी के यत्न करने की बात आज तक देखी सुनी नहीं गई। कवि लोग सर्व तत्वदर्शी और अनन्त ज्ञानशाली होते हैं। वे कुछ नहीं छोड़ते। कैकेयी के अत्याचार से दशरथ कृत राम-वनवास, द्यूत में आसक्त युधिष्ठिर के भाईयों के निर्वासन और अन्यान्य सैकड़ों स्थानों में कवि गण इस महती नीति का प्रतिपादन कर गये हैं। किन्तु कवि लोग नीति-वेत्ता नहीं होते और नीतिज्ञ लोगों ने प्रकाश रूप से इस विषय में कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। जो कोई मन लगा कर लौकिक व्यापारों पर दृष्टि डालेगा, वह इस तत्त्व की समालोचना के विशेष प्रयोजनीय होने में कोई संशय नहीं रख सकता। क्योंकि इस अत्याचार के करने वाले अत्याचारी अनेक हैं। पिता-माता, भाई-बहन, स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या, आत्मीय-कुटुम्बी, सुहृद्-भृत्य, जो कोई प्यार करता है, वही

कुछ न कुछ अत्याचार और अनिष्ट करता है। तुम यह इच्छा किये बैठे हो कि अच्छे लक्षणों वाली, अच्छे कुल की, अच्छे चरित्र की कन्या देख कर उसके साथ ब्याह करेंगे। इसी बीच में तुम्हारे बाप ने तुम से विना पूछे ही किसी लड़की के साथ तुम्हारे ब्याह की बात पक्की कर ली। तुम यदि वालिग हो, तो इस विषय में पिता की आज्ञा मानने के लिये वाध्य नहीं हो। किन्तु पितृ-प्रेम के वशीभूत होकर तुमको वही ब्याह करना पड़ा। मानलो, कोई गरीव है। दैव के अनुग्रह से उसे कोई अच्छी जगह मिल गई और वह दूर देश जाकर गरीवी से पीछा छुड़ाने का उद्योग कर रहा है। इसी बीच में माता ने रोना धोना मचा दिया। उसे अपने से दूर जाने के लिये मना किया। वह मातृ-प्रेम से लाचार होकर रह गया। मातृ-प्रेम के अत्याचार से उसने अपने को सदा के लिये गरीवो के गढ़े में डाल दिया। लायक भाई के कमाये रुपये को निकम्मे नालायक भाई नष्ट करते हैं। यह विल्कुल ही, प्यार का अत्याचार है। यह हिन्दू-समाज में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। भार्या के प्यार के अत्याचार का उदाहरण उद्धृत करने की कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती; और स्वामी के अत्याचार के सम्बन्ध में इतना कह देना कर्त्तव्य है कि उनमें से कुछ प्यार के अत्याचार भी होते हैं, किन्तु अधिकांश अत्याचारों का सम्बन्ध बाहुबल से ही होता है।

मनुष्य-जीवन प्यार के अत्याचारों से पूर्ण है। मनुष्य सदा से अत्याचार-पीड़ित है। प्रथमावस्था में बाहुबल का अत्याचार था। असभ्य जातियों में जो बली था, वही पर-

पीड़न करता था । कुछ समय बाद वह राजा के अत्याचार और धन के अत्याचार के रूप में परिणत हो गया । यह अत्याचार किसी समाज से बिल्कुल कभी नहीं उठाया जा सका । द्वितीय अवस्था में धर्म का अत्याचार, जातीय अवस्था में सामाजिकता का अत्याचार और सभी अवस्थाओं में प्यार का अत्याचार पाया जाता है । इन चार प्रकार के अत्याचारों में प्यार का अत्याचार किसी अत्याचार की अपेक्षा हीनबल या कम अनिष्ट करने वाला नहीं है । बल्कि यह कहा जा सकता है कि राजा, समाज या धर्मवेत्ता, कोई भी प्रणयी की अपेक्षा बलवान् नहीं है । प्रणयी की तरह कोई भी सदा सब घड़ी सब कामों में आकर हस्तक्षेप नहीं करता । इस कारण यह कहा जा सकता है कि प्यार का अत्याचार सब से बढ़ कर अनिष्टकारी है । अन्य अत्याचारों को रोका जा सकता है—अन्य अत्याचारों की सीमा है । क्योंकि अत्याचारियों का विरोध करना सहज है । प्रजा, प्रजापीड़क राजा को कभी गद्दी से उतार देती है और कभी उसके प्राण ही ले लेती है । लोकपीड़क समाज त्याग किया जा सकता है । किन्तु धर्म और स्नेह के अत्याचार से छुटकारा नहीं है । क्योंकि इनका विरोध करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती । कभी कभी बकरी के बच्चे का सालन देख कर बैरागी बाबा की लार टपक पड़ती है, किन्तु कभी वे गोस्वामी के मांस भोजन के सम्बन्ध में विचार करने की इच्छा ही नहीं करते कि वह उचित है या अनुचित । क्योंकि वे जानते हैं, इस लोक में चाहे जितना कष्ट हो, पर परलोक में तो गोलोक अवश्य ही मिलेगा।

मनुष्य जिन अत्याचारों के अधीन है, उनकी जड़ मनुष्य का प्रयोजन है। जड़ पदार्थ को अपने वश में किये बिना मनुष्य-जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। इस लिए बाहुबल का प्रयोजन है। इसी कारण बाहुबल का अत्याचार भी है। बाहुबल का फल बढ़ाने के लिए समाज का प्रयोजन है! उसके साथ ही समाज का अत्याचार भी है। जैसे परस्पर समाज बन्धन में बँधे बिना मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सुसम्पन्न नहीं होता, वैसे ही परस्पर आन्तरिक बन्धन में बँधे बिना मनुष्य-जीवन का अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अतएव समाज का जैसा प्रयोजन है, वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक, प्रणय का प्रयोजन है। बाहुबल या समाज का अत्याचार होने के कारण जिस तरह बाहुबल या समाज को मनुष्य त्याज्य या अनादर की चीज़ नहीं समझते, उसी प्रकार प्रणय का अत्याचार होने के कारण वह भी त्याज्य या अनादरणीय नहीं हो सकता। किन्तु जैसे मनुष्य अत्याचारी बाहुबल और समाज बल को परित्यक्त या अनादृत न करके धर्म के द्वारा उसे शान्त करने की चेष्टा करता है, वैसे ही प्रणय के अत्याचार को भी धर्म के द्वारा शान्त करने का यत्न करना कर्त्तव्य है। धर्म का भी अत्याचार अवश्य है। धर्म का अत्याचार रोकने के लिए अगर अन्य शक्ति का प्रयोग किया जायगा तो उसका भी अत्याचार होगा। अत्याचार की शक्ति स्वाभाविक है। यदि धर्म का अत्याचार शान्त कर सकने वाली कोई शक्ति है, तो वह ज्ञान है। किन्तु ज्ञान का भी अत्याचार है। इसका

उदाहरण हितवाद और प्रत्यक्षवाद नाम के दो दर्शन हैं। इन दोनों के वेग से हृदय-सागर का बहुत सा हिस्सा सूखे बालू के टापुओं का रूप धारण करता जा रहा है। जान पड़ता है, ज्ञान के अत्याचार पर शासन करने के लिए मनुष्य किसी शक्ति का व्यवहार न कर सकेगा। कम से कम इस समय तो यही समझ में आता है।

उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि प्रणय के ही द्वारा प्रणय का अत्याचार शान्त किया जा सकता है। हम स्वीकार करते हैं कि यह बात यथार्थ है। स्नेह यदि स्वार्थपरता से शून्य हो, तो यह हो सकता है। किन्तु साधारण मनुष्यों की प्रकृति ऐसी है कि स्वार्थपरता शून्य प्यार इस संसार में दुर्लभ है। इस बात के असली मतलब को न लेकर अनेक लोग मन ही मन इसका प्रतिवाद कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जिस माता ने स्नेहवश पुत्र को धन कमाने के लिए परदेश नहीं जाने दिया, वह क्या स्वार्थ पर है? बल्कि यदि वह स्वार्थ पर होती तो पुत्र को धन की खोज में दूर देश जाने के लिए मना न करती। क्योंकि कौन माता पुत्र की कमाई का सुख नहीं भोगना चाहती? अतएव इस प्रकार के दर्शन मात्र की आकांक्षा रखने वाले स्नेह को बहुत लोग अस्वार्थपर स्नेह समझते हैं। किन्तु वास्तव में यह खयाल ठीक नहीं है। यह स्नेह अस्वार्थपर नहीं है। जो लोग इसे अस्वार्थपर मानते हैं, वे केवल धनपरायणता को ही स्वार्थपरता समझते हैं। जो धन की कामना नहीं करता, उसे वे स्वार्थपरता से शून्य समझते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि धनलाभ के

अतिरिक्त पृथ्वी पर अन्यान्य सुख हैं और उनमें से किसी किसी सुख की आकांक्षा धन की आकांक्षा से अधिकतर वेगवाली है। जिस माता ने धन का मोह त्याग कर पुत्र-मुख देखने के सुख की वासना से पुत्र को सदा के लिए गरीब बना डाला, अथवा अपनी अवस्था सँभालने का अवसर उसके हाथ से निकल जाने दिया, उसने भी अपना सुख खोया। वह धन का सुख नहीं चाहती, किन्तु पुत्र को सदा देखने का सुख चाहती है। वह सुख माता का है, पुत्र का नहीं है। माता को देखने से अगर पुत्र को सुख हो तो वह जुदी बात है। उसमें पुत्र की प्रवृत्ति होनी चाहिए। माता ने यहाँ पर अपना एक सुख ढूँढ़ा—नित्य पुत्र का मुख देखना। उसकी अभिलाषा करके उसने पुत्र को दारिद्र्य के दुःख से दुखित बनाना चाहा। यहाँ माता स्वार्थपर है; क्योंकि उसने अपने सुख के लिए अन्य को दुखी किया।

मनुष्य के स्नेह का अधिक अंश इसी तरह प्रणायी और प्रणाय-पात्र दोनों के चित्त को सुख-दायक, किन्तु स्वार्थपर पशु-चरित्र होता है। प्रणायी अन्य सुख की अपेक्षा केवल प्रणाय सुख का अभिलाषी होता है, इसी लिए लोग ऐसे स्नेह को अस्वार्थ पर कहते हैं। किन्तु स्नेह का जो सुख है वह स्नेहयुक्त का है। स्नेह-युक्त, अर्थात् स्नेह करने वाला, अपने सुख की आकांक्षा करता है, इस लिए साधारण मनुष्य-स्नेह को स्वार्थ पर वृत्ति कहना अनुचित नहीं।

किन्तु स्नेह मनुष्य के हृदय में स्वार्थसाधन के लिए नहीं स्थापित हुआ है। मनुष्य के चरित्र ने अब तक वैसा

उत्कर्ष प्राप्त नहीं किया, इससे मनुष्यस्नेह अबतक पशुवत् है। पशुवत् इस लिए है कि पशुओं में भी दाम्पत्य के अतिरिक्त परस्पर वत्स-स्नेह, दाम्पत्य-प्रणाय और वात्सल्य, आदि अन्य प्रकार के प्रणाय हैं। सन्तान का स्नेह पशुओं में मनुष्य की अपेक्षा कम नहीं है।

स्नेह का यथार्थ स्वरूप ही अस्वार्थपरता है। जिस माताने पुत्रके सुखके लिए पुत्रमुख-दर्शन सुख की कामना छोड़ दी, वही यथार्थ स्नेह करने वाली है। जो प्रणायी प्रणाय-पात्र की भलाई के लिए प्रणायसुख-भोगको छोड़ सका, वही सच्चा प्रणायी है।

जब तक साधारण मनुष्यों का प्रेम इस तरह विशुद्धता को प्राप्त न करेगा, तब तक मनुष्य के प्यार से स्वार्थपरता का कलंक दूर न होगा और स्नेह की यथार्थ स्फूर्ति न होगी। जहाँ प्यार को ऐसा शुद्ध रूप प्राप्त होगा, या जिसका प्यार ऐसा शुद्ध रूप को प्राप्त हो चुका है, वहीं प्यार के द्वारा प्यार का अत्याचार रोका जा सकता है और रोका भी जाता है। ऐसे शुद्ध प्रणाय के प्रणायी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं। किन्तु इस प्रबन्ध में उनकी बात नहीं की जा रही है और वे अत्याचार भी नहीं करते। अन्यत्र, धर्म के शासन से प्रणाय को शासित करना ही प्यार के अत्याचार को रोकने का एकमात्र उपाय 'धर्म' है। वह धर्म क्या है?

धर्म की चाहे जो कोई जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है। केवल दो मूलसूत्रों में मनुष्य मात्र के नीतिशास्त्र का निचोड़ कहा जा सकता है। उनमें एक आत्मसम्बन्धीय और दूसरा

पर-सम्बन्धीय है। वह आत्मसंस्कार नीति का मूल कहा जा सकता है। अपने चित्त की स्फूर्ति और निर्मलता की रक्षा ही उसका उद्देश्य है। दूसरा सूत्र पर-सम्बन्धी होने के कारण यथार्थ धर्म नीति का मूल कहा जा सकता है। १—दूसरे का अनिष्ट न करना, २—यथाशक्ति दूसरे की भलाई करना, यह महती युक्ति जगत भर के धर्म शास्त्रों का एकमात्र मूल और एकमात्र फल है। अन्य कोई भी नीति से सम्बन्ध रखने वाली उक्ति कहिए, उसका आदि और अन्त इसी में लीन हो जायगा। आत्मसंस्कार-नीति के सब तत्वों के साथ इस महानीति-तत्त्व का ऐक्य है और परहित-नीति और आत्मसंस्कार-नीति एक ही तत्व की भिन्न व्याख्या मात्र है। परोपकार में प्रवृत्ति और पराये अहित से निवृत्ति, यही समग्र नीतिशास्त्र के उपदेशों का सारांश है।

अतएव इसी धर्मनीति के मूलसूत्र का अवलंबन करने से ही प्यार का अत्याचार निवृत्त हो सकता है। जब स्नेह करने वाला आदमी स्नेह-पात्र के किसी काम में हस्तक्षेप करने को उद्यत होता है, तब उसे अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं केवल अपने सुख के लिए उसमें हस्तक्षेप नहीं करूंगा। अपना समझ कर जिस पर स्नेह रखता हूँ उसका किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं करूँगा। जितना कष्ट सहना पड़े, मैं सहूँगा, तथापि स्नेहपात्र को किसी अनिष्टकार्य में प्रवृत्त न करूँगा।

यह बात सुनने में बहुत छोटी और साधारण है और पुरानी जनश्रुति की पुनरुक्ति जान पड़ सकती है, किन्तु समय

पर इसके अनुसार चलना उतना सहज नहीं है। उदाहरण के तौर पर दशरथकृत रामनिर्वासन की बात को ही ले लीजिए। इसी के द्वारा इस सामान्य नियम के प्रयोग की कठिनता बहुतों की समझ में आजायगी। यहाँ कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्यार के अत्याचार में प्रवृत्त हैं। कैकेयी दशरथ के ऊपर और दशरथ राम के ऊपर वह प्यार का अत्याचार कर रहे हैं। इनमें कैकेयी का कार्य स्वार्थपर और नीच कहकर चिर-परिचित है! कैकेयी का कार्य स्वार्थपर नीच अवश्य है, किन्तु उसके प्रति इतनी कटूक्तियों का प्रयोग शायद विहित नहीं कहा जासकता। कैकेयी ने अपने किसी इष्ट की कामना नहीं की --अपने पुत्र की भलाई सोची थी। यह सत्य है कि पुत्र के मंगल से ही माता का मंगल है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो एतद्देशीय पिता-माता अपनी जाति के ख़ौफ से पुत्र को पढ़ने के लिये विलायत नहीं जाने देते, उनके कार्य की अपेक्षा कैकेयी का यह कार्य सौगुना अस्वार्थपर है।

इस बात को जाने दो। कैकेयी के दोष-गुणों का विचार करने के लिये इस समय हम प्रस्तुत नहीं हैं। दशरथ ने सत्य-पालन के लिये राम को वन भेज कर भरत को राज्य दिया। इसमें उन्हें प्राणाधिक पुत्र का वियोग स्वीकार करना पड़ा और अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। इसी से भारतवर्ष के साहित्य का इतिहास उनके यश के कीर्तन से परिपूर्ण है। किन्तु उत्कृष्ट धर्मनीति के विचार से यही सिद्ध होता है कि दशरथ ने पुत्र को अपने अधिकार से च्युत और निर्वासित

करके सत्य का पालन किया, तो इससे उन्हें घोर अधर्म ही हुआ।

हम पूछते हैं कि क्या सत्य (अर्थात् प्रतिज्ञा) मात्र का पालन करना चाहिये? यदि सती कुलकामिनी किसी फेर में पड़कर किसी कुचरित्र पुरुष के निकट धर्मत्याग का वादा कर ले, तो क्या उस वादे को पूरा करना चाहिये? यदि कोई किसी ठग के बहकाने से बिना किसी दोष के मित्र को मारने की प्रतिज्ञा कर ले, तो क्या उसे उसका पालन करना चाहिये? जो कोई घोर महापाप करने की प्रतिज्ञा कर ले, तो क्या वह प्रतिज्ञा पालनीय हो सकती है?

जहाँ प्रतिज्ञा के तोड़ने की अपेक्षा उसकी रक्षा करने में अधिक अनिष्ट है, वहाँ क्या उचित है? प्रतिज्ञा को तोड़ना या प्रतिज्ञा की रक्षा? बहुत लोग कहेंगे कि वहाँ भी सत्य का पालन करना चाहिये। क्योंकि सत्य नित्य-धर्म है, अवस्था-भेद से वह पुण्य से पाप नहीं हो सकता। अगर आप पुण्य और पाप का निर्णय इस विचार से करते हैं कि जब जो काम करने वाले की समझ में इष्ट कारक हो तब वह कर्त्तव्य है और जब अनिष्टकारक हो तब अकर्त्तव्य है, तो फिर पुण्य-पाप में कोई भेद नहीं रहता। तब लोग पुण्य कह कर घोर महापातक में प्रवृत्त हो सकते हैं। हम यहाँ पर इस तत्त्व की मीमांसा नहीं करेंगे। क्योंकि हितवाद दर्शन के अनुयायी लोगों ने एक प्रकार से इसकी मीमांसा कर रखी है।

जब इस प्रकार मीमांसा में गड़बड़ हो, तब धर्म नीति का जो मूलसूत्र पहले बताया जा चुका है, उसके द्वारा परीक्षा की जानी चाहिये।

सत्य क्या सर्वत्र पालनीय है? इसके उत्तर का निर्णय करने के पहले प्रश्न यह है कि सत्य पालनीय क्यों है? सत्य-पालन की एक जड़ धर्म-नीति में है और एक जड़ आत्म-संस्कार-नीति में है। हम आत्मसंस्कार-नीति को धर्म-नीति का अंश मानना अस्वीकार कर चुके हैं, इससे धर्म-नीति का मूल ही देखेंगे। विशेष बात यह है कि दोनों का फल एक ही है। धर्म-नीति का मूल सूत्र यह है कि जिससे दूसरे का अनिष्ट हो वह अकर्त्तव्य है। सत्य पालन करने से दूसरे का अनिष्ट होता है, इसलिये सत्य पालनीय है। किन्तु जब सत्य पालन से दूसरे का भारी अनिष्ट होता हो और सत्य का पालन न करने से वैसा न होता हो, तब सत्य पालनीय नहीं। दशरथ के सत्य पालन से राम का भारी अनिष्ट हुआ और सत्य का पालन न करने से कैकेयी का वैसा कुछ अनिष्ट न होता। रहा दृष्टान्त-स्वरूप से जन समाज का अनिष्ट, सो राम को उनके अधिकार से भ्रष्ट करने में ही उसकी आशङ्का अधिक है। यह तो दस्युता का रूपान्तर कहा जा सकता है। अतएव ऐसी जगह पर दशरथ ने सत्य का पालन करके ही महापाप किया।

यहाँ पर दशरथ स्वार्थपरता से खाली नहीं हैं। सत्य भंग होने से पहले जगत् में उनके कलङ्क की घोषणा होगी, इसी भय से उन्होंने राम को उनके अधिकार से च्युत और वहिष्कृत कर दिया। अतएव यशोरक्षारूप स्वार्थ के वशीभूत होकर उन्होंने राम का अनिष्ट किया। सच है कि उन्होंने प्राणों की हानि भी स्वीकार की, किन्तु उनके निकट प्राणों का

अपेक्षा यश ही प्रिय था। अतएव उन्होंने अपने इष्ट की ही रक्षा की। इसलिये वे स्वार्थपर हैं। स्वार्थपरता के दोष से युक्त पराया अनिष्ट निःस्सन्देह घोरतर महापाप है।

अस्वार्थपर प्रेम और धर्म की एक ही गति और एक ही परिणति है। दोनों का साध्य दूसरे का मङ्गल है। वास्तव में प्रेम और धर्म एक ही पदार्थ हैं। सब संसार जब प्रेम का विषय हो जाता है तब वह प्रेम ही धर्म नाम को प्राप्त होता है। धर्म जब तक सार्वजनिक प्रेम के रूप को धारण नहीं करता, तब तक वह सम्पूर्णता को नहीं प्राप्त होता। किन्तु मनुष्यों ने कार्यतः स्नेह को धर्म से अलग कर रखा है, अतएव प्यार का अत्याचार रोकने के लिये धर्म के द्वारा स्नेह पर शासन होने की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य

(महात्मा गांधी)

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। यह व्रत लेते हुए मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। विकारों को क्योंकर दवा सकूँगा ? फिर भी मैं देख रहा था कि वह मेरा स्पष्ट कर्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। यह सोच कर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० साल बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानन्दाश्चर्य होता है। संयम पालन करने का भाव तो १९०१ से ही प्रबल था और उसका पालन कर भी रहा था, परन्तु जो स्वतन्त्रता और आनन्द मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६ के पहले मिला हो। क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—हर समय उसके अधीन हो जाने का भय था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फ़िनिक्स में लिया था। घायलों की शुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फ़िनिक्स गया था। वहाँ से मुझे तुरन्त जोहानिसबर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीने के अन्दर ही सत्याग्रह संग्राम की नींव पड़ी। मानो यह ब्रह्मचर्य

व्रत उसके लिये मुझे तैयार करने ही आया हो । सत्याग्रह की कल्पना मैंने पहले ही से नहीं बाँध रखी थी । उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो जो काम किये थे, जैसे फ़िनिक्स जाना, जोहानिस्बर्ग का भारी घर, खर्च कम कर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य का व्रत लेना, वे मानो इसकी पेशबन्दी थे।

ब्रह्मचर्य के सोलहों आने पालन का अर्थ है—ब्रह्म-दर्शन । यह ज्ञान मुझे शास्त्रों के द्वारा न हुआ था । यह अर्थ मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभवसिद्ध होता गया । उससे सम्बद्ध रखने वाले शास्त्रवचन मैंने बाद को पढ़े । ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण सब कुछ है, यह बात मैं व्रत के बाद दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा ; क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था, उसी के बल पर काम चलाना था । इस लिये उसकी खूबियों के नित नए दर्शन होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रस की घूँटें पी रहा था, इससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव नहीं कर रहा था । यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है । यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असिधारा व्रत है । निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिये । मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि

स्वाद को जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च मसाले के और स्वाभाविक रूप में करना चाहिये। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वन-फलों पर रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारता का अनुभव होता था वह खुराक में परिवर्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहल था; दूधाहार के कारण कष्ट-साध्य हो गया है। फलाहार छोड़ कर दूधाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा इसका ज़िक्र समय आने पर होगा ही। यहां तो इतना कहना ही बस है कि ब्रह्मचारी के लिये दूध का आहार विघ्न-कारक है, इसमें मुझे तिल मात्र सन्देह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल लें कि हर ब्रह्मचारी के लिये दूध छोड़ना ज़रूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इसके सम्बन्ध में अभी बहुतेरे प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रगोरेशे को मज़बूत बनाने वाला और उतनी ही आसानी से हज़म हो जाने वाला फलाहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी मैं इसके त्याग की सिफ़ारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार की और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, उसी प्रकार उपवास की बात समझनी चाहिये। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि चारों ओर से ऊपर-नीचे दशों दिशाओं से उन पर घेरा डाला जाता है तभी वे क़ब्ज़े में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इस लिये इस बात में मुझे ज़रा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छापूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने ही लोग उपवास करते हुये भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जावेगा। बाहरी उपवास-मात्र करते रहते हैं, पर मन में छप्पन भोगों का भोग लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चखा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या क्या खावेंगे और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषयभोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिये। विषय का मूल तो मन में है। उपवासादि-साधनों से मिलने वाली सहायता बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है, परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश सम्भावनीय नहीं। इस लिये उपवास ब्रह्मचर्य पालन का अनिवार्य अङ्ग है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले बहुतेरे विफल होते हैं, क्योंकि वे आहार विहार तथा दृष्टि इत्यादि में ब्रह्मचारी की तरह बर्ताव करते हुये भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश वैसी ही है जैसी कि गर्मी के मौसम में सर्दी के मौसम का अनुभव करने की कोशिश होती है । संयमी और स्वच्छन्द के तथा भोगी और त्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिये । साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिये। आँख से दोनों काम लेते हैं परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है । कान का उपयोग दोनों करते हैं, परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतों को सुनने में आनन्द मनाता है । जागरण दोनों करते हैं, परन्तु एक तो जागृत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में विराजित राम की आराधना करता हैं, दूसरा नाच-रङ्ग की धुन में सोने की याद भूल जाता है । भोजन दोनों करते हैं, परन्तु एक शरीर रूपी तीर्थ क्षेत्र की रक्षामात्र के लिये कोठे में अन्न डाल देता है और दूसरा स्वाद के लिये देह में अनेक चीज़ों को भर कर उसे दुर्गन्धित बनाता है । इस प्रकार दोनों के आचार विचार में भेद रहा ही करता है और यह अवसर दिन २ बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम । इस संयम के लिये पूर्वोक्त त्यागों की आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी। आज भी दिखाई देती है । त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं,

जैसी कि ब्रह्मचर्य की महिमा की भी सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से साध्य नहीं होता। करोड़ों के लिये तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा। अपने हृदय के कोने कुचरे में छिपे विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्ज़ा नहीं हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे, तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं वे सब एक तरह के विकार हैं। उनको वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज़ है तो फिर यह भी साध्य होकर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिये कि वह असाध्य है। वह तो परम अर्थ है और परम अर्थ के लिये परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है।

परन्तु मैंने देश आने पर देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज़ प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकते हैं कि जब तक मैं मूर्च्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायेंगे और इसलिये अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

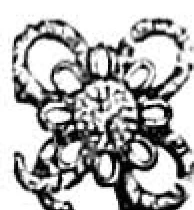
परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर साक्षात् करने के लिये मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के

साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कुछ भी कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥*

(गीता अ० २। श्लोक ५६)

इसलिये आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है। मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही इस बात का अनुभव किया।



---

* निराहारी के विपय तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु रसों का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से रस भी शांत हो जाते हैं।

गीता का तत्व

[चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य]

हिन्दू समाज के सभी सम्प्रदाय वाले भगवद्गीता को शास्त्र और प्रमाण मानते हैं। श्रद्धा-भक्ति के साथ गहरे चिन्तन से, भगवद्गीता के कुछ श्लोकों को पढ़ने पर हमें अपने पूर्वजों के देखे हुए तत्व और ऋषियों द्वारा स्थापित हिन्दू धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन मिलता है। हिन्दू धर्म की नींव पर ही हमारी सब संस्कृति, कला, साहित्य और ऐसी सब भाग्य-सम्पत्ति, जिनका कि हमें फ़ख़ है, भवन रूप में स्थित हैं। इस हिन्दू धर्म के स्वरूप को यथार्थवत् जानना हमारा कर्तव्य है। इस लिए गीता के सारांश को अच्छी तरह पढ़ पढ़ कर, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभकारक होगा।

* * * *

भौतिक-शास्त्र के थोड़े से विषय जान लेने पर, कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है। उसमें भी बिना मेहनत के, दूसरों के अनुसन्धान के फलस्वरूप प्राप्त हुआ ज्ञान कुछ लोगों में ज्यादा भ्रान्ति पैदा कर देता है, जैसे कि मण्डी में सस्ते दाम पर मोल ली हुई पुरानी चीज़ें। कौन सी चीज़ छोटी है,

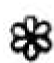
कौन सी बड़ी, कौन सी चीज़ नज़दीक है, कौन सी दूर— इन बातों को जाँचने की उनकी अक्ल गुम हो जाती है। कह डालते हैं कि, जो हमारी समझ में न आवे वह चीज़ है ही नहीं। मनुष्य-बुद्धि से परे सब पदार्थों को मिथ्या बताकर, उनका बहिष्कार करने में वे अगुआ बनते हैं। वे कहा करते हैं—'क्या शास्त्र और क्या धर्मग्रन्थ, सब ढकोसले हैं, सब वेवकूफ़ों के रचे हुए हैं।' और कुछ ज्यादा कहने पर वे कह उठते हैं कि ये सब लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिए दग़ाबाज़ों की लिखी हुई गप्पें हैं। लेकिन, उन्हीं भौतिक शास्त्रों की गहरी खोज में लगने वाले—भौतिक-शास्त्र के तत्त्वों को ढूँढ़ निकालने में सारी आयु और शक्ति को न्योछावर कर दिन-रात एक कर बैठने वाले विद्वान्—ऐसे बावले नहीं होते। भौतिक-शास्त्र के विद्वान् बड़े विनीत हुआ करते हैं। वे जानते हैं कि अपनी देखी हुई चीज़ बहुत बड़ी होने पर भी, अब तक न देखी गई वस्तु, के परिमाण से बहुत छोटी है। वे यह बात भी जानते है कि यद्यपि काल-क्रम में और भी कई विषयों का अनुसन्धान कर भौतिक-शास्त्र को व्यापक बना देंगे, फिर भी ऐसा एक विषय है जो मनुष्य-बुद्धि से सर्वथा अप्राप्य है और वैज्ञानिक खोज की सीमा से बाहर है। यथार्थ में भौतिक-शास्त्रों का अच्छा अनुशीलन कर कौशल प्राप्त करने वाले कभी विनय को नहीं छोड़ते, अपनी हासिल की हुई जानकारी से और भी ज्यादा नम्र हो जाते हैं। यह मानते हुए कि वैज्ञानिक खोज से परे एक

वस्तु है, उस परमार्थ के सामने, ज्ञान और नम्रता से वे सिर झुकाते हैं।

सब कारणों का कारण होकर रहने वाले मूल कारण का, प्रकृति-विधियों की विधि होकर रहनेवाली परा-शक्ति का, मनुष्य की बुद्धि और अन्वेषण में समावेश नहीं हो सकता। लेकिन मनुष्य की बुद्धि अपनी रचना-की खूबसूरती के कारण, अपनी कमियों और हद को न जानती हुई, पूर्णता का अनुभव कर रही है; अगर वैसे न होती, तो वह कुछ भी काम नहीं कर सकती। उसे यह भावना होती है, कि किसी भी विषय को और किसी भी सचाई को अनुसन्धान कर हम समझ सकते हैं। यह भावना उसकी रचना के स्वभाव की उपज है। इसके स्वाभाविक होते हुए भी, सच बात तो और ही है। यद्यपि मनुष्य की बुद्धि एक परम उत्कृष्ट रचना है, तो भी वह उस पूर्ण मूल-वस्तु को, जिसका कि वह स्वयं एक अंश है, अपने अन्दर नहीं समा सकती। छटाँक, चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, छटाँक के मापन-पात्र को अपने अन्दर नहीं समा सकती। जिस तख्ते पर एक आदमी खड़ा हो, वह खड़ा हुआ ही उस तख्ते को ऊपर नहीं उठा सकता। बड़ा ताक़तवर होने पर भी जिस चीज़ पर आप खड़ा है, उसे उखाड़ नहीं सकता। गाड़ी खींचने वाले घोड़े को गाड़ी में चढ़ा देने पर क्या वह गाड़ी खींच सकेगा? मनुष्य की बुद्धि परमार्थ को छोड़कर अलग नहीं टिक सकती। यही कारण है कि उस परमार्थ को ही खींच लेना उसके लिए अशक्य है, अर्थात् वह उसे अपनी ज्ञान-सीमा के

अन्दर नहीं ला सकती। पेट का अन्न-कोश सभी प्रकार के आहार को हज़म कर लेता है, लेकिन वह अपने आपको पचा नहीं सकता। कुछ हद तक कर सकता है, इतने में उसकी शक्ति समाप्त होकर, वह उसके आगे बेकार होगी। साँप, चाहे वह कितना भी क्षुधातुर और क्षुब्ध हो अपनी पूंछ को पकड़ कर अपने आपको निगल नहीं सकता। उसी तरह सब वस्तुओं का कारण-भूत परमार्थ मनुष्य-बुद्धि में समाया नहीं जा सकता।

वैज्ञानिक खोज की सीमा को हम हर बात में देख सकते हैं। किसी भी चीज़ की खोज में लगो, एक हद तक ही उसकी सचाई को जान सकते हो। जैसे कुंआ खोदते वक्त चट्टान को देखकर खोदने का काम हम बन्द कर देते हैं, वैसे ही किसी भी खोज में एक हद तक गहराई में पहुँचकर, मनुष्य बुद्धि से परे चट्टान पर आदमी का मस्तिष्क टक्कर खाता है, यही सीमा है। वेदान्त में ही यह बात हो, सो नहीं। पदार्थ-शास्त्र के परिशीलन में और गणित-शास्त्र में, हम इस सीमा को बार-बार देखते आ रहे हैं। हमने जितना देखा है और देख सके वह उतना ही है, जैसे दूध पर फैली हुई मलाई। उसके नीचे वह रहस्य है जिसे हम कभी नहीं देख सकते। क्या वेद, उपनिषद, गीता आदि दर्शन-ग्रन्थ और क्या ऋषियों के वचन और जीवन-चरित्र, सभी साधारण गवेषणाओं से परे इस रहस्य के विषय का ही विवेचन करते हैं। पंचेन्द्रियों के आधार पर और पंचेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को प्रमाण रखकर

उसके आधार पर, हम जिन बातों को अनुमान से जान सकते हैं, वे ही विज्ञान-शास्त्र के विषय हैं । इससे अगम्य विषय को कैसे देख सकते हैं और कैसे दिखा सकते हैं, यही भिन्न-भिन्न धर्मों का उद्देश्य और प्रयत्न का लक्ष्य बना हुआ है। यही कारण है कि धार्मिक ग्रन्थों में बताये हुए विषय भौतिक-शास्त्र में बताये हुए स्पष्ट हेतु और अन्वेषण के मुताबिक नहीं हैं। कोरे प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञेय ऐसे विषय की गवेषणा करने के लिए भक्ति चाहिए, ध्यान चाहिए, शान्ति चाहिए, नियम चाहिये, तप चाहिए—यही वेद और धर्मशास्त्रों का कथन है । पास के गांव को जाना हो तो पैदल जा सकते हैं, दूर के गांव की बात हो, तो हम अपने पैरों का उपयोग न कर गाड़ी और बैल के सहारे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते हैं। पेड़ पर चढ़ना दूसरी बात है। कुएँ में उतरना कुछ और है। फूल को कान में रखने से सुगन्धि का भेद मालूम नहीं होगा। सुन्दर चित्र को नाक से सूँघने पर सौन्दर्य का भास न होगा। इन्द्रियों के अग्राह्य पदार्थ का मन में भास होना, इन्द्रियानुभव से स्थापित गवेषणा-विधियों और प्रमाणों से अशक्य है। इस कारण पारमार्थिक बातों की विवेचना करने के लिये भक्ति, नियम, पवित्रता, ध्यान, ईश्वर-वन्दना और तप की आवश्यकता है। बाहरी और भीतरी इन्द्रियों का दमन कर, मन को एकाग्र रखना ही तप है, न कि शरीर को दुखाना ।

सब ठीक है लेकिन अब यह प्रसंग छिड़ता है—बुद्धि के जैसे अगोचर पदार्थ के बारे में मनुष्य को जानने की आवश्यकता ही क्या है ? अज्ञेय विषय के बारे में चिन्तन करने

या खोज करने से लाभ क्या है । इसका समाधान यही है कि भौतिक शास्त्र की खोज के बाहर होने से ही, जो पदार्थ है उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । यह बात निश्चित है कि, हमसे छुये गए, देखे गये, सूँघे गये, सुने गये और जाँच किये गये विषयों से परे, मूल-कारण और सब का आधारभूत एक वस्तु है। उसे हम छू नहीं सकते, उसके रूप को पहचान नहीं सकते, उसके गुण बुद्धि से अपरिमेय हैं । फिर भी वह वस्तु सब जगह, सब चीज़ों में व्याप्त होकर स्थित है । यह सत्य है कि सब पदार्थ, सब शक्ति, सब मनुष्य के स्वरूप के, सभी इस अज्ञात पदार्थ से आकर्षित हैं । ऐसे बड़े भारी सत्य की खोज किये विना मनुष्य कैसे रह सकते हैं । इसलिये परमार्थ की ओर ध्यान न देना अनहोनी बात है । अन्धेरी कोठरी में क्या चीज़ है, यह तो हम नहीं जान सकते, लेकिन जब यह विश्वास हो कि भीतर एक मुख्य वस्तु है, तो हम उस अन्धेरी कोठरी की बिना जाँच किये कैसे रह सकते हैं ?

गणित-शास्त्र का विचार करने पर, विद्वान् लोग यह कहते हैं कि गणित के कई ऐसे शब्द हैं जिनका हिसाब हम संख्या-रूप में नहीं लगा सकते । लेकिन वे उन्हीं चीज़ों को अच्छी तरह ध्यान में रखकर, अनेक मुख्य विषयों का हिसाब कर लेते हैं। उसी गणित के आधार पर भवनों का निर्माण और यन्त्रों का आविष्कार होता है । वृत्त की परिधि और व्यास का परस्पर क्या सम्बन्ध है, सम-चतुर्भुज Square के पक्ष Side की नाप और कर्ण Diagonal की नाप का परस्पर सम्बन्ध क्या है, ऐसी मामूली बातों का हिसाब भी संख्या-रूप में नहीं

लगा सकते। ४ का वर्गमूल २ है । ६ का वर्गमूल ३ है । इसी तरह २ का वर्गमूल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर हम दशमलव या साधारण अपूर्णाङ्क के रूप में, हिसाब लगाकर निश्चित नहीं बता सकते। लेकिन ये अज्ञात गिनतियाँ काम में लाई जाती हैं, यह बात गणित-शास्त्री और बड़े-बड़े भवन, पुल, बाँध आदि बाँधने वाले विद्वान् जानते हैं । उसी तरह, इस कारण से कि ईश्वर और धर्म खोज की पहुँच से बाहर हैं, उन्हें अनावश्यक कहकर हम छोड़ नहीं सकते । यद्यपि वेद, उपनिषद, गीता आदि ग्रन्थों में कथित विषयों की सीमा, आधार, स्वरूप आदि का हम सप्रमाण निर्णय नहीं कर सकते, तो भी वे हैं, मुख्य विषय और जीवन के लिये अत्यावश्यक।

इस कारण से गीता में, उपनिषदों में और लोकप्रसिद्ध ग्रन्थों में विषय का प्रतिपादन उतना स्पष्ट नहीं हुआ है, जितना कि गणित, भौतिक, रसायन आदि विज्ञान-शास्त्रों के ग्रन्थों में, हम उन विषयों को निराधार नहीं मान सकते । इन्द्रियातीत तत्वों की समीक्षा कर ज्ञान पाने के लिये सिर्फ़ चेतना और बुद्धि ही काफ़ी है । भक्ति, पवित्रता, तप और ध्यान की भी ज़रूरत है । ध्यान और तपश्चर्या के मार्ग में ये ग्रंथ मार्गदर्शक का काम करते हैं।

यदि हम शरीर-शुद्धि और मनोशुद्धि से परमात्मा का ध्यान कर, उसकी वंदना करेंगे, तो जो बातें हमें पहले विपरीत, परस्पर-विरुद्ध और निरर्थक प्रतीत होती थीं, वे ही बाद में सार्थक दृष्टिगोचर होंगी । मन से अग्राह्य विषय भी स्पष्ट रूप से हमारी आँखों के सामने चमकेंगे । इस तरह भगवान्

की कृपा से प्राप्त विषय को, जिसे हम अन्तरात्मा के द्वारा देखकर आनन्दित होते हैं, दूसरों को प्रकट करने में भी हम असमर्थ हो सकते हैं।

*   *   *

किसी भी धर्म या सम्प्रदाय को ठीक तरह से जानना हो, तो द्वेष या अनादर-पूर्ण बुद्धि बेकार ठहरेगी। जिस विषय को हम महान् नहीं समझते, उस विषय का यथार्थ ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। अगर हम इस धारणा से कि 'ये सब धोखेबाज़ हैं; हमें ठगना ही इनका इरादा है, अपने किसी फ़ायदे के लिये झूठ और दया से धर्मों की स्थापना कर इन्होंने स्मृति और पुराणों को लिख डाला, अपने मन को ख़राब कर पढ़ने बैठेंगे, तो कुछ भी नहीं सूझेगा। ऐसा सोचना भी मूर्खता है। हम में जो अब अक्ल, सावधानी और सन्देह की भावना हैं उस ज़माने के लोगों में भी ये सब थीं। यह सोचना कि 'वे सब निठल्लू थे, बहुत ही सहज में इनकी जालसाज़ी में फँस गये, ग़लत है। हम में जो तीक्ष्ण बुद्धि है वह उस युग के लोगों में भी थी। विषयों में अक्ल लड़ाकर, खोज कर झूठ और दया को ढूँढ़ निकालने के लिये उन दिनों उन्हें काफ़ी अवकाश भी था। धर्मों की उन्नति उस युग में इसलिये हुई कि उन लोगों को धर्माचार्यों के साक्षात् दर्शन मिले थे, उन्होंने उनके उपदेशामृत का पान किया था; और उनमें यह भावना भी थी कि उन आचार्यों के गुण और जीवन कमनीय और आदरणीय हैं। यह समझना कि कपट और वंचना से उनका ज़्यादा फैलाव हुआ, बिलकुल ग़लत है।

कोई भी संस्था या कोई भी विधान समय के फेर से कुछ स्वार्थियों के वश में पड़कर उनके स्वार्थ का साधन बन जाता है। इसी रीति से, क्या धार्मिक संस्थाएँ और क्या धर्म, सब कलुषित हो गये हैं, यह बात तो सच है। लेकिन, पीछे से हानि हुई है, इस कारण से उन धर्मों के संस्थापक-महानों को अपमानित करना गवेषणा का नियम है। परनाले में गन्देपन को देख कर, क्या हम यह सोच सकते हैं कि बादल में भी मैलापन था? हम बादल और वर्षा को जैसे आदर की दृष्टि से देखते हैं, वैसे ही आदि-ऋषियों और उनके प्रणीत धर्म-शास्त्रों को मान देकर, हमें उनका अध्ययन करना चाहिये। चोर को ढूँढ़ कर पकड़ने के लिये घर में घुसने वाले पुलिस अफसर के मनोभाव से, हम गीता या किसी दूसरे धर्मावलम्बियों के दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ने बैठेंगे, तो उनका कुछ फ़ायदा नहीं निकलेगा और वैसा पढ़ना भी नहीं चाहिये। ऐसे ग्रंथों का अध्ययन करते समय, हमें उसी भक्ति और प्रेम के साथ उनके निकट पहुँचना चाहिये, जैसे कोई पुत्र अपने पिता के पास जा रहा हो।

('नवशक्ति' से—)



रस–समीक्षा

(लेखक—श्री काका साहब कालेलकर)

रसों का संस्कार

अगर सोचें तो सहज में ही यह पता लग जायगा कि साहित्य, संगीत और कला, इन तीनों के ही भावनाक्षेत्र से इनके भीतर एक ही वस्तु समाई हुई है। इस वस्तु को 'रस' कहते हैं। प्राचीन साहित्याचार्यों ने रस का विवेचन कई रीतियों से किया है। संगीत में राग और ताल के अनुसार रस बदलते हुए देखे गये हैं। चित्रकला में नव रसों के भिन्न-भिन्न प्रसंग तूलिका के सहारे चित्रित किये जाते हैं। रेखाओं-द्वारा विविध रंगों के साहचर्य से रस व्यक्त किये जाते हैं। परन्तु साहित्य, सङ्गीत और चित्रकला की सामूहिक दृष्टि से या जीवन-कला की समस्त सार्वभौमिक दृष्टि से रस का अब तक किसी ने विवेचन नहीं किया है। साहित्याचार्यों ने जो कुछ विवेचन किया है, उसे ध्यान में रखकर और उसका संस्कार कर उसको और भी अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है।

यह ज़रूरी नहीं है कि पूर्वाचार्यों ने जिन नव-रसों का विवेचन किया है, हम उनके वही नाम और उतनी ही संख्या

मान लें । हमारे संस्कारी जीवन में कलात्मक रस कौन-कौन से हैं, अब इसकी स्वतन्त्रता पूर्वक छानबीन होनी चाहिए।

शृंगार और प्रेम

हमारे यहाँ शृंगार-रस 'रसराज' की उपाधि से अलंकृत किया गया है । वह सब रसों का सरताज माना गया है । पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है । इसे सर्वश्रेष्ठ रस नहीं कह सकते ।

प्राणि-मात्र में स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे की तरफ आकर्षण होता है । सृष्टि ने इस खिंचाव को इतना अधिक उन्मादकारी बनाया है कि इसके आगे मनुष्य की तमाम होशियारी, सारा सयानापन और संयम गायब हो जाता है। सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि काम-वृत्ति का आरम्भ वासना से होता है, लेकिन काम अगर धर्म के पथ से चले तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है । विशुद्ध प्रेम में आत्म-विलोपन, सेवा और आत्म-बलिदान की प्रधानता रहती है । काम विकार है । प्रेम को कोई विकार नहीं कहता, क्योंकि उसके पीछे हृदय की उदात्तता रहती है।

शृंगार आरम्भ में भोग-प्रधान होता है । पर हृदय-धर्म की रासायनिक क्रिया से वह भावना-प्रधान बन जाता है । यह रसायन और परिणति ही काव्य और कला का विषय हो सकती है । प्राचीन नाट्यकारों ने जिस प्रकार नाटक में रंग-मंच पर भोजन करने का दृश्य दिखलाने का निषेध किया है, उसी प्रकार उन्होंने भोज-प्रधान शृङ्गारी चेष्टाओं को भी खुल्लमखुल्ला बतलाने की रोक-थाम कर दी

है। यह तो कोई नहीं कहता कि नाट्य-शास्त्रकारों को खाने पीने आदि से घृणा थी। देह-धर्म के अनुसार इन वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर ये प्रसङ्ग और ये आकर्षण कला के विषय नहीं हो सकते। कलाकृति में इन वस्तुओं के लिए कोई स्थान नहीं है। हमारे नाट्यशास्त्र में शृङ्गार-चेष्टाओं के प्रति संयम रखने का जो इशारा है, उसको अब योरप के अच्छे से अच्छे कला-रसिक प्रशंसा करने लगे हैं।

हम प्रेम-रस का शुद्ध वर्णन भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में पाते हैं। 'शाकुन्तल' में प्रेम के प्राथमिक शृङ्गार का स्वरूप भी है और अन्त का परिणत शुद्ध रूप भी है। सच पूछो तो प्रेम को ही 'रसराज' की पदवी से विभूषित करना चाहिये। शृङ्गार को तो केवल उसका आलम्बन-विभाव कह सकते हैं। शृङ्गार के वर्णन से मनुष्य की चित्तवृत्ति सहज में ही उद्दीपित की जा सकती है। इस सहूलियत के कारण सभी देशों और सभी काल में कलामात्र में शृङ्गार-रस की प्रधानता पाई जाती है। जैसे ऋतुओं में वसन्त, उसी तरह रसों में शृङ्गार उन्मादकारी होता है। जिस तरह लोगों की या व्यक्ति की खुशामद करके बातचीत का रस बड़ी आसानी से निभाया जा सकता है, उसी तरह शृङ्गार-रस को जागृत करके बहुत ओछी पूंजी के ऊपर आकर्षण करने वाली कृति का निर्माण किया जा सकता है।

सच्चे प्रेम-रस में अपना व्यक्तित्व खोकर दूसरे के साथ तादात्म्य भाव (सम्पूर्ण अभेद-भाव) का अनुभव करना होता

है, इसी लिये उसमें आत्म-विलोपन और सेवा की प्रधानता होती है।

वीर-रस

वीर-रस भी अपने शुद्ध रूप में आत्म-विकास को सूचित करता है। सामान्य स्वस्थ स्थिति में रहने वाला मनुष्य अपने आत्म-तत्व को प्रकट नहीं कर सकता, क्योंकि यह शरीर के साथ एकरूप होकर रहता है। जब किसी असाधारण प्रसङ्ग के कारण खरी कसौटी का समय आता है तब मनुष्य अपने शरीर के बन्धन से ऊँचा उठता है। इसी में वीर-रस की उत्पत्ति है।

वीर-रस में प्रतिपत्ती के प्रति द्वेष, क्रूरता, उसके सामने अहङ्कार का प्रदर्शन आदि आवश्यक नहीं है। लोक-व्यवहार में बहुत बार ये हीन भावनायें मौजूद रहती हैं। कभी कभी शायद ये ज़रूरी भी हो पड़ती हैं, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि साहित्य में इनका स्थान हो ही। साहित्य कुछ वास्तविक जीवन का सम्पूर्ण फोटोग्राफ नहीं होता। जितनी वस्तुओं की तरफ ध्यान खींचना आवश्यक होता है, साहित्य में उन्हीं की चर्चा की जाती है। इष्ट वस्तु को आगे रखना और अनिष्ट वस्तु को दबाना साहित्य तथा कला का ध्येय है। इस पुरस्कार और तिरस्कार के बगैर कला का ठीक-ठीक विकास नहीं होने पाता। साहित्य में वीर-रस को जिन चीज़ों से हानि पहुँचती हो उन्हें साहित्य में से निकाल डालना चाहिये। तभी वह कलापूर्ण साहित्य होगा।

शौर्य और वीर्य

लोक-व्यवहार में भी वीर-रस एक सीमा तक आर्यत्व की अपेक्षा तो रखता ही है। पशुओं में जोश होता है, पर वीर्य नहीं होता। जब जोश में आकर आपे से बाहर होते हैं, वे आपस में अन्धाधुन्ध लड़ पड़ते हैं। यही उनकी पशुता है। पर कहीं ज़रा सा भी भय का सञ्चार उनमें हुआ कि अपनी दुम दबा कर भागने में उन्हें देर नहीं लगती। आवेश हो या न हो, लेकिन तीव्र कर्तव्य-बुद्धि के कारण अथवा आर्यत्व के विकसित होने से मनुष्य भय पर विजय पा लेता है। इस प्रकार वह आत्म-गुणों का उत्कर्ष स्थापित करता है। ऐसा वीर-कर्म, ऐसी वीर-वृत्ति देखने वाले या सुनने वाले के हृदय में वीरभाव को जागृत करती है, और इसी में वीर-रस का आकर्षण और उसकी सफलता है।

वीर-वृत्ति और वैर-वृत्ति

दुःख की बात है कि वीर-वृत्ति में से कभी कभी वैर-वृत्ति भी जागृत होती है। इसका कोई इलाज न देखकर आर्य धर्मकारों ने इसकी मर्यादा बाँध दी है—"मरणान्तानि वैराणि"। दुश्मन के मरने के बाद उसकी लाश को पैर से ठुकराना, उसके जिस्म के टुकड़े टुकड़े करवा डालना, उसके सगे सम्बन्धियों का आश्रितों को दर-दर का भिखारी बनाना, उनकी दुर्दशा करना, और उनकी अनाथ स्त्रियों की बेइज़्ज़ती करना, यह सब एक आर्य वीर के लिये शोभावह नहीं है। इससे कुछ मृत शत्रु का अपमान नहीं होता, उलटे अपने वीरत्व को ही बट्टा लगता है। सच्चे वीर पुरुष यह बात भली

भाँति जानते हैं । आर्य साहित्याचार्यों, कवियों और, कलाकारों ने पुकार-पुकार कर यही कहा है कि शत्रुता ही करो तो वह भी अपनी बराबरी के किसी शत्रु को खोज कर करो, और उसे हराने के बाद उसकी इज़्ज़त करके उसकी प्रतिष्ठा बनाये रक्खो, और इस तरह अपना गौरव बढ़ाओ ।

वीर-वृत्ति का परिचय मनुष्य के ही विरोध में नहीं दिया जाता, बल्कि सृष्टि के कुपित होने पर भी मनुष्य अपनी उस वृत्ति को विकसित कर सकता है । जब शत्रु सामने नङ्गी तलवार लिये खड़ा हुआ है तब अपने बचाव के लिये मुझे अपनी सारी ताक़त बटोर कर उसका मुक़ाबिला करना ही होगा । इस मौक़े पर, अगर मैं लड़ाकू वृत्ति न रक्खूँ तो जाऊँ कहाँ, इस प्रकार जब पीठ फेरना असम्भव हो जाता है तब आत्मरक्षा की वृत्ति वीर-वृत्ति की सहायक बन जाती है। जिसे अपनी जान ज्यादा प्यारी होती है वही इस मौके पर अधिक शूर बन जाता है। परन्तु जब कोई मनुष्य पानी में डूब रहा हो अथवा जलते हुए घर के अन्दर से किसी असहाय बालक के चीखने की आवाज़ सुनाई पड़ रही हो, उस समय अपने बचाव की, जीवन के जोखिम की, ज़रा भी परवा न करते हुए कोई तेजस्वी पुरुष अपने हृदय-धर्म का वफ़ादार बन कर पानी में या धधकती हुई आग में कूद पड़ता है तब वह अपनी वीर-वृत्ति का परम उत्कर्ष प्रकट करता है । माफ़ी माँग कर जीने की अपेक्षा फाँसी पर चढ़ जाना मनुष्य ज्यादा पसंद करता है । करोड़ों रुपये के लालच के वश में न होकर केवल

न्यायबुद्धि को जो मनुष्य पहचानता है वह भी अपने अलौकिक वीरत्व का परिचय देता है । इस दुनिया का चाहे जो हो, पर अन्तरात्मा की आवाज़ को बे-वफ़ा नहीं होने दूँगा, ऐसी वीर-धीर-वृत्ति जिस मनुष्य में स्वाभाविक होती है वह वीरेश्वर हैं।

शरीफ़ लोगों का धन-हरण या पर-स्त्री का अपहरण करने की नीचातिनीच वृत्ति से प्रेरित बहादुरी की कोई आर्य-पुरुष क़द्र नहीं करता । डाकू लोग भारी से भारी डाके डाल कर मिले हुए धन का एक भाग अपने आस-पास के प्रदेश के ग़रीब लोगों में बाँट देते हैं और इस प्रकार लोकप्रिय बन कर अपने पकड़ने वालों को हरा देते हैं । कभी कभी ऐसे डाकू और लुटेरे कुछ ख़ास ख़ास समाज-कंटक लोगों को नष्ट कर और उनका सर्वस्व लूट कर ग़रीबों को भययुक्त भी कर देते हैं । इससे भी कृपण जनता ऐसे लोगों की दुष्टता को भूल कर उनके गुणों का बखान करने लगती है । यह काम चाहे जितना स्वाभाविक क्यों न हो, फिर भी इससे समाज की उन्नति होती है, ऐसा हम कभी नहीं कह सकते। अकेली हिम्मत और सरफ़रोशी वीर-रस नहीं है और शत्रु को बेरहमी से अङ्ग-भङ्ग करने में, उसके आश्रित जनों को फ़ज़ीहत करने में वैर-वृत्ति की तृप्ति भले ही हो जाय, इसमें न तो शूरता है, न वीरता है, न धीरता है और आर्यता तो होगी ही कहाँ से।

वीभत्स

योद्धा में लहू, मांस और शरीर के छिन्न-भिन्न अवयवों को देखने की टेव होनी ही चाहिये । दुःख और वेदना

अपने हों या पराये, उन्हें सहन करने की शक्ति भी उसमें होनी चाहिये। शस्त्र-क्रिया करने वाले डाक्टरों में भी इस शक्ति का रहना आवश्यक है। फिर भी वीर-रस के वर्णन के सिलसिले में जब रणानदी के वर्णन बाँचता हूँ तब उसमें से जुगुप्सा को छोड़ कर दूसरा भाव पैदा ही नहीं होता। खून के कीचड़ और उसमें उतराते हुए नर-रुण्डों के वर्णन से वीर-रस को किसी तरह पोषण मिलता है, यह अब तक मेरी समझ में नहीं आया है। युद्ध में जो प्रसङ्ग अनिवार्य हैं उनमें से मनुष्य भले ही गुज़रे, किन्तु जुगुप्सित घटनाओं का रसपूर्ण वर्णन कर के उसी में आनन्द मनाने वाले लोगों की वृत्ति को तो विकृत ही कहना चाहिये।

वीर-कथायें कैसे पढ़ें?

वीर-रस मनुष्य-द्वेषी नहीं है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितकारी और धर्मपरायण आर्यवृत्ति का द्योतक है। उसका रूप यही होना चाहिये। वीर-रस के पोषण और संरक्षण का भार वीरों के ही हाथ में होना चाहिये। वीर-वृत्ति को पहचानने वाले कवि, चारण और शायर जुदे हैं, और अपनी रक्षा की तलाश में रहने वाले कायर और आश्रित जुदे हैं।

पुराने ज़माने की भली बुरी सब वीर-कथाओं को हम पढ़ें ज़रूर, उन्हें आदर के साथ बाँचें, किन्तु उनमें से हम पुरानी प्रेरणा नहीं ले सकते। उन लोगों का वह प्राचीन सन्तोष हमें अपने लिये त्याज्य ही समझना चाहिये। जीवन में वीरता के नये आदर्शों को स्वतन्त्र रूप से विकसित करके, और उन

के लिये आवश्यक पोषक तत्व प्राचीन कथाओं में से जितनी मात्रा में मिल सकें उतने अवश्य ही प्राप्त किये जाने चाहियें, परन्तु वीर-रस के क्रूर या जीवनद्रोही आदर्शों में हम फिसल न जायँ। अगर जीवन में से वीरता चली गई तो वह उसी क्षण से सड़ने लगता है और अन्त में उस में एक भी सद्गुण नहीं टिकता, यह हमें नहीं भूलना चाहिये।

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वय-प्रेमी संस्कृति का वीर-रस तो त्याग के रूप में ही प्रकट होगा। आत्मविलोपन, आत्मदान ही जीवन की सच्ची वीरता है। इसके असंख्य भव्य प्रसङ्ग कला के वर्ण्य विषय हो सकते हैं। ये प्रसङ्ग कला को उन्नत करते हैं और प्रजा को जीवन-दीक्षा देते हैं। यदि भविष्य की कला इस दिशा की तरफ़ अग्रसर हुई तो निकट भविष्य में वह बहुत भारी तरक्क़ी—असाधारण उन्नति—कर सकेगी, और समाज-सेवा भी इसके हाथों अपने आप होगी।

एको रसः करुण एव

जब भवभूति ने 'रस एक ही है और वह करुण है और अनेक रूप धारण करता है' यह सिद्धान्त स्थिर किया तब उसने करुण शब्द को उतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। जहाँ हृदय कोमल हो, उन्नत हो, सूक्ष्मज्ञ हो या उदात्त हो, वहाँ कारुण्य की छटा आयेगी ही। कारुण्य की सम्भावना या समवेदना सार्वभौम होती है। इसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं। करुण-रस ही रस-सम्राट है, और यह आवश्यक नहीं है कि इस रस में शोक का भाव

होना ही चाहिये । वात्सल्य-रस, शान्त-रस और उदात्त-रस, ये करुणा के ही जुदे २ पहलू हैं । बाकी अन्य सब रस, अन्त में जैसे सागर में नदियां समा जाती हैं वैसे ही इस रस में लीन हो जाते हैं । एक मित्र ने इन सब रसों के लिये "समाहित रस" का नाम सूचित किया, जो मुझे बहुत ठीक जँचा । पर इसमें शक है कि भाषा में यह सिक्का चल सकेगा या नहीं। सच पूछा जाय तो सब रसों की परिणति योग में ही है । योग अर्थात् समाधि—समाधान—सर्वात्म एकता का भाव । अन्त में कला में से यही वस्तु निकलेगी । यह योग ही कला का साध्य और साधन है । दुर्भाग्य की बात है कि योग का यह व्यापक अर्थ आजकल की भाषा में स्वीकार नहीं किया जाता।

हमारे साहित्यकारों ने करुणा-रस का बहुत सुन्दर विकास किया है । कालिदास का 'अज-विलाप' अथवा भव-भूति का उत्तररामचरित करुणा-रस के उत्तम से उत्तम नमूने माने जाते हैं । भवभूति जिस समय करुणा-रस का राग छेड़ता है, उस समय पत्थर भी रोने लगता है और वज्र का हिया भी पिघल कर चूर २ हो जाता है । करुणा-रस ही मनुष्य की मनुष्यता है । फिर भी यह ज़रूरी नहीं है कि करुणा-रस का उपयोग सिर्फ स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विरह वर्णन में ही हो । माता का अपने बालक के लिये या किसी का अपने मित्र के लिये विलाप करने मात्र से भी करुणा-रस का क्षेत्र सम्पूर्ण नहीं होता । अनन्तकाल से हर एक युग में और हर देश में, प्रत्येक समाज में किसी न किसी कारण, महान् सामा-

जिक अन्याय होते आ रहे हैं। हज़ारों और लाखों लोग इस अन्याय के बलि हो रहे हैं। अज्ञान, दारिद्र्य, उच्च-नीच भाव, असमानता, मात्सर्य और द्वेष इत्यादि अनेक कारणों से और बिना कारण भी मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार कर रहा है। उसे गुलाम बना रहा है, चूस रहा है और अपमानित कर रहा है। ये सभी प्रसङ्ग करुण-रस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

पशु पक्षियों का या गाय-भैंस का सामुदायिक दुःख अभी तक किसी ने गाया है, ऐसा मन में विचार उठता भी नहीं है। मध्यम वर्ग के लोग विधवाओं के दुःखों का कुछ वर्णन करने लगे हैं। करुण-रस का असर जितना होना चाहिए उतना नहीं हुआ। अतएव हृदय की शिक्षा और हृदय-धर्म की पहचान अपूर्ण ही रही है और इसी से गांधी जी जैसा व्यक्ति अस्पृश्यता के कारण अपने हृदय का क्षोभ प्रकट करता है, फिर भी समाज के हृदय पर उसका काफ़ी असर नहीं पड़ता, करुण-रस में केवल हृदय का पिघलना ही पर्याप्त नहीं, हृदय में आग लगनी चाहिए और उससे जीवन में आमूल क्रान्ति हो जानी चाहिये।

हास्य-रस

ऊँचे दर्जे का हास्य-रस संस्कृत-साहित्य में बहुत ही कम पाया जाता है। उसमें जहाँ तहाँ नरम वचन और सुन्दर चाटूक्तियाँ तो बिखरी पड़ी हैं; और यह अपनी संस्कृति की विशेषता है। हालाँकि अब हमारे साहित्य में भी हास्य-रस के अनेक सफल प्रयोग होने लगे हैं, फिर भी यही कहना पड़ता है कि नाटकों में पाया जाने वाला हास्य-रस अभी बहुत सस्ता

और साधारण कोटि का है। हमारे व्यंग-चित्रों में और प्रह-सनों में पाया जानेवाला हास्य-रस आज भी अधिकांश में निम्न श्रेणी-का है।

अद्भुत का आविष्कार

अद्भुत का रूप ही ऐसा होता है कि उसके आगे कला का साधारण व्याकरण स्तम्भित हो जाता है। विजयनगर की आसपास की पहाड़ियों में बड़ी बड़ी शिलाओं के जो ढेर पड़े हुए हैं उनमें किसी तरह की व्यवस्था या समरूपता नहीं है। सरोवर का आकार, मेघों का विस्तार, नदी का प्रवाह—इनमें कौन किसी तरह की व्यवस्था की अपेक्षा रख सकता है? भव्य वस्तु अपनी भव्यता-द्वारा ही सर्वाङ्गपूर्ण होती है। जो कुछ भी भव्य, विशाल, विस्तीर्ण, उदात्त, उन्नत और गूढ़ है वह अनन्त का प्रतिरूप है, और इसी लिए यह अपनी सत्ता से अत्यन्त रमणीय है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक

अद्भुत रौद्र और भयानक इन तीनों रसों का उद्गम एक ही जगह से है। हृदय की भिन्न-भिन्न प्रतिभूतियों के कारण ही उसके जुदे-जुदे नाम पड़े। जब शक्ति के आविर्भाव से हृदय दब जाता है, अपनी लज्जा खो बैठता है, तब भया-नक रस का निर्माण होता है। सिर पर लटकती हुई एक ऊँची चट्टान के नीचे हम खड़े हों तो उस समय हमारे मन में यह विश्वास तो रहता है कि यह शिलाराशि हमारे सिर पर गिरनेवाली नहीं है, उलटे, आँधी-तूफान से ही हमारी रक्षा करेगी। इतना विश्वास होते हुए भी यदि वह कहीं गिर

पड़े तो ?—इतना ख़याल मन में आते ही हम दब जाते हैं। यह एक शक्ति का ही आविर्भाव है। पहाड़ जैसी ऊँची-ऊँची लहरों पर तैरकर सफ़र करनेवाले जहाज़ में बैठे-बैठे हम इस भाव का एक भिन्न रीति से अनुभव करते हैं।

मनुष्य भव्य वस्तु के साथ हमेशा अपना मुक़ाबिला करता ही रहता है। ऐसा करते-करते जब वह थक जाता है तब इससे रौद्र-रस प्रकट होता है और जहाँ भव्यता की नवीनता और उसका चमत्कार भुलाया नहीं जाता, वहाँ अद्‌भुत-रस का परिचय मिलता है। ये तीनों रस मनुष्य की संवेदन-शक्ति के ऊपर निर्भर हैं। आकाश के अनन्त नक्षत्रों को देखकर जानवरों को कैसा लगता है, यह हम नहीं जानते। जब बच्चों को वह एक पालने के चँदोवे की तरह मालूम होता है तब वही एक प्रौढ़ खगोल-शास्त्री को नित्य नूतन और बढ़ते हुए अद्‌भुत-रस का विश्वरूप-दर्शन जैसा लगता है। अद्‌भुत-रस की विशेषता यह है कि जिस तरह मेघ का गर्जन सुन कर सिंह को गर्जन करने की सूझती है, उसी तरह आर्य-हृदय की भव्यता का दर्शन होने के साथ ही अपनी विभूति भी उतनी ही विराट् भव्य करने की इच्छा होती है। अद्‌भुत-रस में मनुष्य की आत्मा अपने को अद्‌भुतता से भिन्न नहीं मानती, पर एक अमुक रीति से इसमें वह अपना ही प्रादुर्भाव देखती है। रौद्र या भयानक में वह अपने को भिन्न मानती है। इन दोनों मनो-वृत्तियों का जिसने अनुभव किया है, ऐसे कलाकार ने एकाएक घोषित किया है कि शिव और रुद्र एक ही हैं, शान्ता और

दुर्गा एक ही हैं। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं। श्री रामचन्द्र जी का दर्शन होते ही हनुमान् के भक्त हृदय ने स्वीकार कर लिया —

'देहबुद्ध्या तु दासोऽहम्
जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहम्,
यथेच्छसि तथा कुरु॥'

इस अन्तिम चरण में जो सन्तोष और आत्मसमर्पण है, वही कला के क्षेत्र में शान्त-रस है। रौद्र, भयानक और अद्भुत ये तीनों रस अन्त में जब तक शान्त-रस में न मिल जायँ, जब तक हमारा समाधान न करें, तब तक कोई इन्हें रस कहेगा ही नहीं।

———

महाकवि कालिदास का चरित्र

(भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र)

राजा विक्रमाजीत की सभा में ६ रत्न थे । उनमें से एक कालिदास थे । कहते हैं कि लड़कपन में इसने कुछ भी नहीं पढ़ा लिखा, केवल एक स्त्री के कारण इसे यह अनमोल विद्या का धन हाथ लगा । इसकी कथा यों प्रसिद्ध है । शरदानन्द की लड़की विद्योत्तमा बड़ी पण्डिता थी। उसने यह प्रतिज्ञा की कि जो मुझे शास्त्रार्थ में जीतेगा, उसी को ब्याहूँगी। उस राजकुमारी के रूप-यौवन विद्या की प्रशंसा सुनकर दूर दूर से पण्डित आते, पर शास्त्रार्थ के समय उससे सब हार जाते थे । जब पण्डितों ने देखा कि यह लड़की किसी तरह वश में नहीं आती और सब को हरा देती है, तब मन में अत्यन्त लज्जित होकर सब ने एका किया कि किसी ढब विद्योत्तमा का विवाह किसी ऐसे मूर्ख के साथ करावें, जिससे जन्म भर अपने घमण्ड पर पछताती रहे। निदान वे लोग मूर्ख की खोज में निकले । जाते जाते देखा, एक आदमी पेड़ के ऊपर जिस टहनी के ऊपर बैठा है, उसी को जड़ से काट रहा है । पण्डितों ने उसे महामूर्ख समझ कर बड़ी आव-भगत से नीचे बुलाया, और कहा कि चलो, हम तुम्हारा ब्याह राजा की लड़की से करा दें । पर खबरदार

राजा की सभा में मुँह से कुछ भी बात न कहना, जो बात करनी हो इशारों से बताना। निदान जब वह राजा की सभा में पहुँचा, जितने पण्डित वहाँ बैठे थे, सब ने उठ कर उसकी पूजा की, ऊँची जगह बैठने को दी और विद्योत्तमा से यों निवेदन किया कि ये बृहस्पति के समान विद्वान् हमारे गुरु आपके -याहने को आये हैं। परन्तु इन्होंने तप के लिये मौन साधन किया है। जो कुछ आपको शास्त्रार्थ करना हो, इशारों से कीजिये। निदान उस राजकुमारी ने इस आशय से, कि ईश्वर एक है, एक उँगली उठाई। मूर्ख ने यह समझ कर कि यह धमकाने के लिये उँगली दिखा कर एक आँख फोड़ देने का इशारा करती है, अपनी दो उँगलियाँ दिखलाईं। पण्डितों ने उन दो उँगलियों के ऐसे अर्थ निकाले कि उस राजकुमारी को हार माननी पड़ी और विवाह भी उस समय हो गया। रात के समय जब दोनों का एकान्त हुआ, किसी तरफ से एक ऊँट चिल्ला उठा। राजकन्या ने पूछा कि वह क्या शोर है। मूर्ख तो कोई भी शब्द शुद्ध नहीं बोल सकता था, कह उठा उट्र चिल्लाता है और जब राजकुमारी ने दुहरा कर पूछा, तब उट्र की जगह उसट्र कहने लगा, पर शुद्ध उष्ट्र का उच्चारण न कर सका। तब तो विद्योत्तमा को पण्डितों की दगाबाज़ी मालूम हुई और अपने धोखा खाने पर पछता कर फूट फूट कर रोने लगी। वह मूर्ख भी अपने मन में बड़ा लज्जित हुआ। पहले तो चाहा कि जान ही दे डालूँ, पर फिर सोच समझकर घर से निकल विद्या उपार्जन में परिश्रम करने लगा और थोड़े ही दिनों में ऐसा पण्डित हो गया, जिसका

नाम आज तक चला जाता है। जब वह मूर्ख पण्डित हो कर घर में आया तो जैसा आनन्द विद्योत्तमा के मन को हुआ, लिखने के बाहर है। सच है, परिश्रम से सब कुछ हो सकता है।

कालिदास के समय घटखर्पर, वररुचि आदि और भी कवि थे। कालिदास ने काव्य नाटकादि अनेक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे हैं। इनकी काव्य-रचना बहुत सादी, मधुर और विषयानुसारिणी है। अंगरेज़ लोग कालिदास को अपने शेक्स-पियर से उपमा देते हैं।

कालिदास को आखेट आदि खेलों की बड़ी चाह थी और उसने अपने ग्रन्थ में इसका वर्णन किया है कि मनुष्य के शरीर पर ऐसे खेलों से क्या क्या उपकारी परिणाम होते हैं।

कालिदास उज्जैन में रहता था, परन्तु उसकी जन्मभूमि काश्मीर थी।

देशान्तर होने पर स्त्री के वियोग से जो जो दुःख उसने पाये, उनका बखान मेघदूत काव्य में लिखा है। कालिदास बड़ा चतुर पुरुष था। उसकी चतुराई की बहुत सी कहानियाँ हैं और वे सब मनोरंजक हैं जिनमें से कई एक ये हैं।

(१) भोज राजा को कविता पर बड़ी रुचि थी। जो कोई नया कवि उसके पास आता और कविता-चातुर्य दिखलाता, उसको वह अच्छा पारितोषिक देता, और चाहता तो अपनी सभा में रख लेता था। इस प्रकार से यह कविमण्डल बहुत बढ़ गया। उसमें कई कवि तो ऐसे थे कि वे एक बार कोई नया श्लोक सुन लेते, तो उसे कण्ठ कर सकते थे। जब कोई मनुष्य राजा के पास आकर नया श्लोक सुनाता था, तो कहने लगते

थे कि यह तो हमारा पहिले ही से जाना है और तुरन्त पढ़ कर सुना देते थे।

एक दिन कालिदास के पास एक कवि ने आकर कहा कि महाराज, आप यदि मुझे राजा के पास ले चलें और कुछ धन दिला देवें तो मुझ पर आपका बड़ा उपकार होगा। जो मैं कोई नया श्लोक बनाकर राजसभा में सुनाऊँ तो उसका माना जाना कठिन है, इस लिये कोई युक्ति बताइये।

कालिदास ने कहा कि तुम श्लोक में ऐसा कहो कि राजा से मुझको अपने रत्नों का हार लेना है और जो कुछ मैं कहता हूँ सो वहाँ के कई पण्डितों को भी मालूम होगा। इस पर यदि पण्डित लोग कहें कि यह श्लोक पुराना है तो तुमको रत्नों का हार मिल जायगा, नहीं नये श्लोक का अच्छा पारितोषिक मिलेगा।

उस कवि ने कालिदास की बताई हुई युक्ति को मान कर वैसा ही श्लोक बनाया और जब उसको राजसभा में पढ़ा तो कविमण्डल चुपचाप हो रहा और उस कवि को बहुत सा धन मिला।

(२) एक समय कालिदास के पास एक मूढ़ ब्राह्मण आया और कहने लगा कि कविराज, मैं अति दरिद्र हूँ और मुझ में कुछ गुण भी नहीं है। मुझपर आप कुछ उपकार करें तो भला होगा।

कालिदास ने कहा, अच्छा हम एक दिन तुमको राजा के पास ले चलेंगे, आगे तुम्हारा प्रारब्ध। परन्तु रीति है कि जब राजा के दर्शन के निमित्त जाते हैं तो कुछ भेंट ले जाया करते हैं,

इस लिये मैं जो ये साँटे के चार टुकड़े देता हूँ सो ले चल। ब्राह्मण घर लौटा और साँटे के टुकड़ों को उसने धोती में लपेट रक्खा। यह देख कर किसी ठग ने उसके बिना जाने उन टुकड़ों को निकाल लिया, और उसके बदले लकड़ी के उतने ही टुकड़े बाँध दिये।

राजा के दर्शन को चलने के समय ब्राह्मण ने साँटे के टुकड़ों को नहीं देखा। जब सभा में पहुँचा तब उस काठ को राजा को अर्पण किया। राजा उसको देखते ही बहुत क्रोधित हुआ। उस समय कालिदास पास ही था। उसने कहा महाराज, इस ब्राह्मण ने अपनी दरिद्ररूपी लकड़ी आपके पास लाकर रक्खी है। इस लिये कि उसको जलाकर इस ब्राह्मण को आप सुखी करें। यह बात कवि के मुख से सुनते ही राजा बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने ब्राह्मण को बहुत धन दिया।

(३) एक समय राजा भोज कालिदास को साथ ले वनक्रीड़ा हेतु अरण्य को गये और घूमते घूमते थके माँदे हो, एक नदी के किनारे जा बैठे। इस नदी में पत्थर बहुत थे, उन पर पानी गिरने से बड़ा शब्द होता था। उस समय राजा ने कालिदास से विनोद करके पूछा कि कविराज, यह नदी क्यों रोती है? कालिदास ने उत्तर दिया कि महाराज, यह छोटे ही पन में अपने मैके से ससुराल को जाती है।

कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ शकुन्तला, मालविकाग्निमित्र और मेघदूत हैं। शकुन्तला बहुत वर्णनीय ग्रन्थ है। उसका उल्था योरप की सब भाषाओं में हो गया है।

एक समय कविवर कालिदास अपने मकान में बैठ कर अपने प्रिय पुत्र को अध्ययन कराता था। उसी समय क्षत्रिय-

कुल-भूषण शकारि विक्रमादित्य संयोग से आ गये। कविवर कालिदास ने महाराजा को देख प्रिय पुत्र का पढ़ाना छोड़ कर शिष्टाचार की रीति से महाराज का आदर मान किया। जब क्षत्रिय-कुल-भूषण महाराज विक्रमादित्य ने पढ़ाने की प्रार्थना की तब फिर अध्ययन कराना प्रारम्भ किया। उस समय कवि-वर कालिदास अपने प्रिय पुत्र को यही पढ़ाता था कि राजा अपने ही देश में मान पाता है और विद्वान् का मान सब स्थानों में होता है। महाराज इस प्रकार की शिक्षा सुन अपने मन में कुतर्क करने लगे कि कविवर कालिदास ऐसा अभि-मानी पण्डित है कि मेरे ही सामने पण्डितों की बड़ाई करता है और राजाओं को, धनवानों को व मुझे नीचा दिखाता है। मैं पण्डितों का विशेष आदर मान करता हूँ और जो मेरे वा अन्य राजाओं वा धनवानों के यहाँ पण्डितों का आदर नहीं हो तो कहाँ हो सकता है। ऐसा कुतर्क करते हुए राजा अपने घर गये। महाराजा विक्रमादित्य ने कविवर कालिदास को जो धन सम्पत्ति दी थी उसको हर लेने के लिये मंत्री को आज्ञा दी। मंत्री ने वैसा ही किया जैसा महाराज ने कहा था। कवि-वर कालिदास की जीविका जब हर ली गई तब दुखी होकर वह अपने बाल-बच्चों के साथ अनेक देशों में भटकता हुआ अन्त में करनाटक देश में पहुँचा। करनाटक-देशाधिपति बड़ा पंडित और गुणग्राहक था। उसके पास जाकर कविवर कालिदास ने अपनी कविता-शक्ति दिखलाई। इस करनाटक-देशाधिपति ने अति प्रसन्न होकर बहुत सा धन और भूमि दे कर उसको अपने राज्य में रक्खा। कविवरकालिदास राजा

से सम्मान पाकर उस देश में रह कर प्रति दिन राज-सभा में जाने और राजा के सिंहासन के पास ऊँचे आसन पर बैठ सब राज-काजों में उत्तम सम्मति देने लगा और अनेक प्रकार की कविताओं से सभासदों के मन की कली खिलाता हुआ सुख से रहने लगा। जब से कविवर कालिदास को विक्रमादित्य ने छोड़ा तब से वे बड़े शोक-सागर में डूबे थे। नवरत्नों में कविवर कालिदास ही अनमोल रत्न था। इसके सिवाय जब राजा को राजकाज के कामों से फुरसत मिलती थी तब केवल कविवर कालिदास ही की अद्भुत कविताओं को सुनकर उस का मन प्रफुल्लित होता था। इसलिये ऐसे गुणी मनुष्य के बिना राजा का मन सब वस्तुओं से उदास रहने लगा। फिर राजाने कविराज कालिदास का पता लगाने के लिये सब देशों में दूतों को भेजा। जब कहीं पता न लगा तब राजा आप ही भेष बदल कर खोजने के लिये निकले। कई देशों में घूमते फिरते जब ये करनाटक देश में गये तो उस समय उनके पास मार्ग व्यय के लिये एक हीरा जड़ी हुई अँगूठी को छोड़ और कुछ नहीं था। उस अँगूठी को बेचने के लिये वे किसी जौहरी की दुकान पर गये। रत्न-पारखी ने ऐसे दरिद्र के हाथ में ऐसी रत्न-जटित अँगूठी को देखकर मन में उसे चोर समझा और कोतवाल के पास भेजा। कोतवाल राजसभा में ले गया। चारों ओर देखते भालते जो आगे बढ़े तो कविवर कालिदास को देखा और कहा, महाराज मैंने जैसा किया वैसा ही फल पाया। कविवर कालिदास उठकर राजा को अङ्क में लगा कर करना

टक देशाधिपति से परिचय करा और सब ब्योरा कह कर राजा वीर विक्रमादित्य के साथ चला आया।

पर इन कथाओं से भी वह झंझट पाई जाती है और कविवर कालिदास का समय ठीक निश्चय होना कठिन है। ❀



❀ वस्तुतः कालिदास नाम के कई सत्कवि हो चुके हैं। विक्रमादित्य कालिक कालिदास ही आद्य तथा सर्वश्रेष्ठ कालिदास हैं। उपर्युक्त शाकुन्तलादि ग्रन्थ उन्हीं की कृति हैं।

नित्यकर्म

(पण्डित प्रतापनारायण मिश्र)

सवेरे उठ कर रात को सो रहने के समय तक प्राय: जो काम प्रति दिन सब को करने पड़ते हैं, वे नित्यकर्म कहलाते हैं। सोना, जागना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना और फिरना इत्यादि नित्यकर्म हैं, इन्हें सभी लोग सदा ही करते रहते हैं और देखते हैं कि इनके बनने-बिगड़ने से कोई विशेष लाभ अथवा हानि भी बहुधा नहीं होती, इससे साधारण लोग इन पर विशेष ध्यान नहीं रखते, क्योंकि वे इन्हें साधारण वा छोटे काम समझते हैं। पर विचार कर देखिये तो हमारे जीवन का अधिकांश इन्हीं पर निर्भर है। बड़े २ काम तो कभी ही कभी किसी ही किसी को करने पड़ते हैं। अत: इन नित्य के कामों को तुच्छ समझ कर इनकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी से दूर है। अनुभवशील सज्जनों का सिद्धान्त है कि जो पुरुष छोटे-छोटे साधारण-साधारण कार्यों को सावधानी और उत्तमता से करते रहने का अभ्यास रखता है, वही काम पड़ने पर बड़े २ कामों को उत्तम रीति से निबाह सकता है, नहीं तो नित्य के आहार-विहारादि का नियम ठीक न रहने से शरीर का बल घट जाता है, काम करने का अभ्यास जाता रहता है और बुद्धि की तीव्रता का

ह्रास हो जाता है। इसी से जब कोई नया और कठिन काम आ पड़ता है तो जी ऐसा घबराने लगता है, मानो किसी ने सिर पर पहाड़ ला के रख दिया। एवं ऐसी दशा में यदि ज्यों-त्यों कर पूरा भी हो गया तो उत्साह के साथ होना सम्भव नहीं, क्योंकि हमारा जीवन सृष्टिकर्ता ने एक भवन के समान बनाया है। जैसे भवन के सुन्दर-सुन्दर बड़े २ कोठ-बरोठ आदि छोटी-छोटी ईंट अथवा पत्थर इत्यादि से बनते हैं, वैसे ही हमारे जीवन के बड़े-बड़े कार्य इन्हीं नित्य के छोटे-छोटे कामों के मध्य वा यों कहो इन्हीं के द्वारा सङ्गठित होते हैं। यदि ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि दृढ़ एवं उत्तम न हों तो घर की दृढ़ता और उत्तमता असम्भव है। इसी प्रकार यदि हमारे नित्य के व्यवहार उत्तम रीति से नियमबद्ध न हुये तो नैमित्तिक कामों का यथोचित रीति से पूर्ण होना अनिश्चित समझना चाहिये। इससे जो लोग अपने जीवन की सार्थकता के हेतु चाहते हैं कि दो-चार स्मरणीय कार्य कर जायँ उन्हें उचित है कि अपने प्रत्येक काम पर प्रति क्षण ध्यान रखा करें। जो कुछ करें बहुत सोच विचार के करें जिसमें यथा-सामर्थ्य कोई काम ऐसा न होने पावे जो बुद्धिमान् के ठहराये हुये नियमों के विरुद्ध हो। वे नियम प्रायः पढ़ने-लिखने वालों से छिपे नहीं हैं। पर स्मरण दिलाने की भाँति हम यहाँ पर संक्षेप से लिख देना उचित समझते हैं।

सोकर उस समय उठना चाहिये जब घंटा डेढ़ घंटा रात्रि शेष रहे और उठते ही बाह्य के लिये न दौड़ना चाहिये, किन्तु दस-पाँच मिनट ठहर के आलस्य को निवारण कर जाना उचित

है। फिर हाथ मुँह भली भाँति धो के नीम, करंज अथवा बबूल की दातून से मुख शुद्ध कर के यदि शीत अधिक न हो तो उसी समय दो-चार मिनट के उपरान्त स्नान भी कर लेना उचित है। नहीं तो नौ-दस बजे के लगभग स्नान कर लेना भी दूषित नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नहाने के लिये घर के कुएँ की अपेक्षा गंगा, यमुना आदि बड़ी नदियाँ अत्युत्तम हैं, पर यदि इनका मिलना कठिन हो तो कुआँ के जल से ही, पर हो ताजा और मीठा। जाड़े के दिनों में गरम पानी से नहाना भी बुरा नहीं है, पर इतना गरम न होना चाहिए कि सहा न जाय, नहीं तो मस्तिष्क और नेत्र को बड़ा हानिकारक होता है। स्नान के आधे घंटा पहिले तिली, नारियल अथवा सरसों का तेल शिर और शरीर में लगाना बड़ा गुणकारक है। तथा सुगन्धित साबुन भी यदि मिल सके तो नित्य नहीं, दूसरे चौथे दिन अवश्य लगाना चाहिये, एवं नहाना भी बहुत जल से भली भाँति शिर से उचित है। तदनन्तर स्वच्छ अथच कोमल वस्त्र से देह अच्छे प्रकार पोंछ के यदि अपनी जाति और समाज में चाल हो तो श्वेत चन्दन (जाड़े में केशर युत) अथवा भस्म बहुत सी मस्तक और वक्षःस्थल आदि पर लगाना आरोग्य-वर्द्धक है। ये काम सूर्योदय के लगभग पूरे कर के नगर के बाहर मैदान या वाटिका की स्वच्छ वायु-सेवन के लिये निकल जाना चाहिए। नीरोग रहने के निमित्त यह यत्न बहुत ही उत्तम है। सद्वैद्यों का विचार है कि प्रातःकाल की पवन स्वर्गीय पवन है। उसके द्वारा जीवधारियों के तन और मन प्रफुल्लित होते हैं। इसके अतिरिक्त स्नान करने के उपरान्त

अथवा दो-तीन घन्टा पहिले व्यायाम भी कर्तव्य है, पर इतना ही मात्र जितने में बहुत थकावट न जान पड़े। अनुभवी लोगों का वचन है कि कम से कम पाँच और अधिक से अधिक चालीस तक डंड, मुग्दर, बैठक करना चाहिए और इसके उपरान्त जब तक भलीभाँति थकावट दूर न हो जाय कुछ भी खाना पीना उचित नहीं है। केवल स्वच्छ वायु में दौड़ते व टहलते रहना चाहिए। इस अवसर पर यदि अच्छी चिकनी सुगन्धित मिट्टी लोटने को मिले तो अत्युत्तम है। इसके अनन्तर भोजन का समय है। एक सात-आठ बजे कुछ थोड़ा सा दूध अथवा मिठाई आदि खाना चाहिए। फिर दस बजे से बारह बजे तक दाल-रोटी पूरी, तरकारी आदि, पुनः तीन चार बजे थोड़ा ही सा फल फलहरी वा मिठाई आदि और फिर सोने से डेढ़ घन्टा पहिले दाल रोटी आदि। खाने-पीने में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि खाद्य पदार्थ शीघ्र पचनेवाले और बलकारक हो, बासी एवं बहुत गरम वा बहुत ठंढे न हों, कच्चे और जले हुए भी न हों। इसके सिवा जब तक एक बार का खाया हुआ भली-भाँति पच न जाय तब तक कुछ खाना उचित नहीं है और खाने से निवृत्त होना उस समय योग्य है जब कुछ भूख बनी रहे। भोजन के उपरान्त थोड़ी देर बाईं करवट लेट रहना अथवा कुछ काल धीरे-धीरे टहलना और तीन-चार बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना पाचनशक्ति के लिये बड़ा उपयोगी है। प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होनेवाले शाक, फल तथा सब प्रकार के अन्न भी स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं। अतः इन्हें भी थोड़ा-बहुत खाते रहना चाहिये। बहुत लोग स्वास्थ्यरक्षा के विचार से बहुत

से पदार्थ सर्वथा छोड़ देते हैं, यह उचित नहीं है। मादक पदार्थ छोड़ के और सभी वस्तुओं को खाने का अभ्यास रखना चाहिए, नहीं तो संयोगवशतः जब कभी कुछ खाने में आता है तब एक तो अवगुण विशेष करता है, दूसरे चित्तको भ्रमात्मक कष्ट उपजाता है। इससे उत्तम यही है कि विकार करने पर छोड़ भले ही दे पर खाये सब जायँ।

विशेषतः इस देश के लिये घृत और दुग्ध सर्वोत्तम खाद्य हैं। इस लिए इन्हें अवश्य ही प्रतिदिन खाना चाहिए और जहाँ तक हो सके उत्तम से उत्तम ढूँढ़ के लाना चाहिए। यदि किसी कारणसे पच न सके तो थोड़ा सा अभ्यास बढ़ाना चाहिए। अथवा किसी युक्ति से खाना चाहिए। वैद्यों का मत है कि यदि दूध न पचता हो तो चूने का पानी मिला कर पिया करें, और घी न पचे तो दाल में डाल के वा गूंधने के समय आटे में छोड़ के खाए। इस रीति से अवश्य पचने लगेगा। इन नियमों के साथ ही इसका भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिए कि खाने तथा सोने और बैठने आदि का स्थान, पहिनने, ओढ़ने, बिछाने आदि के कपड़े, खाने-पीने आदि के बरतन सदा स्वच्छ रहें। इनमें किसी घृणाकारक और दुर्गन्ध-प्रसारक पदार्थ का संपर्क न होने पावे, बरंच जिधर ऐसी वस्तुओं की संभावना हो उधर जाना भी उचित नहीं है, बस दिन के काम यही हैं। अब रहे रात्रि के कर्तव्य, उनका नियम यों है कि संध्या समय से अर्थात् सूर्य्यास्त के कुछ पहले से पढ़ना-लिखना वा पड़े बैठे रहने का स्वभाव छोड़ देना चाहिए। नगर के बाहर वा ऐसे स्थान पर चले जाना उचित है जहाँ के

प्राकृतिक दृश्य मन को नयन को सुख देते हों, वहाँ दौड़ना, उछलना, गाना आदि बलकारक एवं प्रमोदविस्तारक कर्म भी अवश्य करना चाहिए। इनसे तन और मन में फुर्ती आती है। फिर वहाँ से लौटकर श्रम की निवृत्ति के उपरान्त भोजन करके नौ-दस बजे तक सो रहना चाहिए। सोने के कुछ ही पहिले दो-चार भूनी हर्रें लोन के साथ खाना अथवा दूध पीना भी आवश्यक है और इस बात की तो बड़ी ही भारी आवश्यकता है कि दिन भर के कामों का स्मरण कर के यह विचार लिया जाय कि कौन काम अच्छा बन पड़ा है, कौन बुरा, तथा कल से किस-किस काम को छोड़ देने और किस-किस के विशेष यत्न करने में कटिबद्ध रहना चाहिए। रात्रि को पढ़ना लिखना नेत्रों के लिये हानिकारक है, पर यदि बड़ी ही आवश्यकता हो तो सरसों अथवा अरंड के तेल की उजियाली में पढ़-लिख लें, किन्तु उतने ही काल तक जितने में आँखों में झिलमिलाहट न आवे। यों ही सोते से उठकर जल पीना भी दूषित है। पर यदि बहुत ही प्यास हो तो नाक के निःश्वास को रोक के थोड़ा सा पी ले। किन्तु यह स्मरण रक्खे कि ऐसा काम करना महा निषिद्ध है, जिसके कारण नींद, भूख, प्यास आदि नित्य की अपेक्षा अधिक सतावें वा इनके रोकने की आवश्यकता पड़े; क्योंकि प्रकृति के किसी वेग को रोकना ही सब विकारों का मूल है। बस, इन नित्यकर्मों के नियम न बिगड़ने पावें तो कभी किसी रोग की सम्भावना नहीं है। यदि ऋतु आदि के विकार से कुछ हुआ भी तो इतनी हानि न पहुँचावेगा जितनी नियम के विरुद्ध चलने वालों की होती है।

इससे इनके साधन में सदा सर्वथा सावधान रहना चाहिए और निर्वाहोपयोगी कार्यों में आलस्य तथा दूसरों की प्रतीक्षा न करनी चाहिए । इस प्रकार के स्वभाव बहुत ही बुरे हैं कि प्यासे बैठे हैं, जब सेवक अथवा छोटा भाई ही पानी ले आवे तो पियें । नहीं, सब काम सदा अपने हाथ से करने में उद्यत रहना चाहिए । तभी शरीर नीरोग, मन प्रसन्न, और बुद्धि स्फूर्तिमती रहेगी । फिर बस, जो करना चाहिएगा आनन्द से कर लीजिएगा; और जो काम आ पड़ेगा सहज ही सा जान पड़ेगा, क्योंकि परिश्रम का अभ्यास होगा तो किसी काम में बाधा नहीं पड़ सकती । इसी से सब बातों के पहिले नित्यकर्मों को नियमबद्ध रखना परमावश्यक है ।

(सुचालशिक्षा से)

V. Very Gupta
Hindi Nalai
1953.

माता का स्नेह

(पण्डित बालकृष्ण भट्ट)

वात्सल्य-रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूँढ़ने से भी न पाइयेगा। सच है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

मातृस्थानापन्न दादी, दादा, चाची, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह बहुधा औचित्य-विचार और मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है। किन्तु माता तथा पिता का स्नेह पुत्र में निरे वात्सल्य-भाव के मूल पर है। अब इन दोनों में भी विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है? इसकी समालोचना आज हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ते हैं, पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो बालकों में हर एक अच्छी बातों का अंकुर गुप्त रीति से प्यार ही से जमता है। विलायत के एक चतुर चितेरे ने लिखा है कि "मेरी माँ के एक बार चूम लेने ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया।" गुरु और उस्ताद हमें पाठशाला में भय और ताड़ना दिखला कर जितना वर्षों में सिखला सकते हैं, उतना अपने घर में हम सुत-वत्सला माँ के अकृत्रिम सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। माँ

के स्वाभाविक, सच्चे और बे-बनावटी प्रेम का प्रमाण इससे बढ़ कर और क्या मिल सकता है कि लड़का कितना ही रोता हो या बिरझाया हुआ हो, मां की गोद में जाते ही चुप हो जाता है। इसी तरह जहाँ थोड़ी देर तक लड़के ने दूध न पिया तो माँ के स्तन भी दूध से भर आते हैं, दूध टपकने लगता है और वह विकल हो जाती है। उसके पालन-पोषण की चिन्ता और फिक्र और निरोग और प्रसन्न देख चित्त का हुलास, रोगी तथा अनमना देख अत्यन्त विकल होना, यह सब माता ही में पाया जाता है। माता और पिता के स्नेह का तारतम्य इससे अधिक स्पष्ट और क्या हो सकता है कि लड़का कुपूत और निकम्मा निकल जाय तो बाप कभी उसका साथ नहीं देता, बल्कि घर से निकाल अलग कर देता है, पर मां बहुधा सात भाँवर वाले पति को भी त्याग निकम्मे पुत्र का साथ देती है। बङ्गालियों तथा हमारे देश के कनौजियों में जिनके बीच बहु-विवाह प्रचलित है, अर्थात् पुरुष बहुत सी स्त्रियों को ब्याह लेने की बुराई को बुराई नहीं समझते, इसके बहुत से उदाहरण पाये जाते हैं। दो चार नहीं वरन् हज़ार पाँच सौ ऐसी भी देखी गई हैं जिन्होंने बालक की अत्यन्त कोमल अवस्था ही में पिता के न रहने पर चक्कियाँ पीस-पीस कर अपने पुत्र को पाला और उसे पढ़ा-लिखा सब भाँति समर्थ और योग्य कर दिया। पुत्र भी ऐसों के ऐसे २ सुयोग्य हुये हैं कि जैसे सब भाँति भरे-पूरे घरानों में भी न निकलेंगे। जब महाकवि श्रीहर्ष केवल पाँच वर्ष के थे तो उनके पिता ने बाद में पराजित हो लाज से तन त्याग दिया। तब उनकी माँ ने उनसे चिन्तामणि-

मन्त्र का जप करवा कर तथा उन्हें सरस्वती देवी का कृपापात्र बना कर उनको अत्यन्त उद्भट पण्डित बना दिया और पीछे से अपने पति के परास्त कराने वाले पण्डितों को इनके द्वारा बाद में हरा कर पूरा बदला चुका लिया।

पुराणों में ऐसी अनेक कथायें मिलती हैं, जिनमें माता का वात्सल्य टपक रहा है। मां का एक बार का प्रोत्साहन पुत्र के लिये जैसा उपकारी और उसके चित्त में असर पैदा करने वाला होता है, पिता की सौ बार की नसीहत और ताड़ना भी वैसी नहीं होती। सौतेली माँ, सुरुचि, के वज्रपात-सदृश वाक्प्रहार से ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त सन्तापित ध्रुव को, जब वह केवल पाँच ही वर्ष के बालक थे, सुनीता देवी का एक बार का प्रोत्साहन उस ध्रुवपद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं। पिता का स्नेह बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसी लिये पालता, पोसता और पढ़ाता-लिखाता है कि बुढ़ापे में वह हमारे काम आवेगा तथा जब हम सब भाँति अपाहिज और अपङ्ग हो जायेंगे तो हमारी सेवा करेगा और हमारे अन्न-वस्त्र की फ़िक्र करेगा। पर मां का उदार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की इच्छा कभी नहीं रखता। मां अपनी प्रिय सन्तान के लिये कितना कष्ट सहती है। इसे याद कर चित्त में वात्सल्य भाव का उद्गार हो आता है। मां में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया मानो देह धरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की मढ़ी में मूसलाधार

अखण्डधार पानी बरस रहा है और फूस का ठाठ सब ओर से ऐसा टपकता है कि कहीं बीता भर जगह बची नहीं है और न ग़रीबी के कारण इतना कपड़ा-लत्ता पास है कि आप भी ओढ़े और प्रिय सन्तान को ढांप कर वृष्टि के भयङ्कर उत्पात से बचावे। लेकिन फिर भी माता आधी ही धोती ओढ़े हुये है। आधी से वह अपने दुधमुँहे बालक को ढाँपे उसको छाती से लगाये हुये है। अपने प्राण और देह की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु वात और वृष्टि से पुत्र का कोई अनिष्ट न हो इस लिये वह अत्यन्त व्यग्र हो रही है। पुत्र को रुग्ण और अस्वस्थ दशा में पलंग के पास बैठ उदासीन मन मारे वह उसका मुँह ताक रही है। रात की नींद और दिन का भोजन उसे मुहाल हो गया है। भाँति-भाँति की मन-मनौती तथा उतारा और सदके में वह लगी है। जो जैसा कहता है, वह सब कुछ करती जाती है। अपनी जान तक क्यों न चली जाय, पर पुत्र को स्वस्थता हो, इसी की फ़िक्र में वह है।

पिता को अपने शरीर पर इतना कष्ट उठाना कभी न भावेगा। यह माता ही है जो पुत्र के स्वाभाविक स्नेह के वश में ही इतने दुःख सहती है। बुद्धिमानों ने इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर लिख दिया है कि "पिता से मां का गौरव सौगुना अधिक है।" मां का केवल गौरव मान कर बैठ रहना कैसा? हम तो कहेंगे कि पुत्र जन्म-पर्यन्त तन, मन, धन से मां की सेवा करे, तब भी वह उसके पूर्व उपकार का ऋणी बना ही रहेगा। कवि सम्प्रदायानुगत प्रसाद और माधुर्य गुण से भरा तथा वात्सल्य-रस में पगे

हुए एकाक्षरी महामंत्र मां की ममता, शब्दों की कल्पना करने वाले आदि के उस महापुरुष ने, जिसने सृष्टि के प्रारम्भ ही में हमें यह बतलाया की अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध होता है, जान-बूझ कर किसी दूसरे शब्द से नहीं रक्खी। "प्रसवितृ" "मातृ", "जननि", "अम्ब" आदि जितने शब्द इस अर्थ के बोधक हैं, उनमें सरस, दन्त्य और तालव्य अक्षरों के सिवाय टकार, डकार, पकार आदि कड़े और कर्णकटु वर्ण किसी में न पाइयेगा। इससे निश्चय होता है कि शब्द की कल्पना करने वाले उन पहले के वैयाकरणों को प्यारी माँ का कहाँ तक गौरव था। भाई-बहन में परस्पर स्नेह का बंधन और बहुधा समान-शील का होना मां के उसी दूध का परिणाम है। एक ही मां का दूध वे पीते हैं, इसी लिए वे इतना प्रेमबद्ध रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ, जननी केवल जन्मदात्री ही नहीं है वरन् पवित्र और अरस स्नेह प्रसवितृ भी वही है। प्रेम को तीन तरह का दिखलाया गया है। एक तो वे लोग हैं जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं। दूसरे वे जो तुम चाहे प्रेम करो या न करो वे तुम से प्रेम करते हैं, तीसरे वे जो ऐसे कट्टर हैं कि उनसे कितना ही प्रेम करो तौ भी वे नहीं पसीजते। जो परस्पर प्रेम करते हैं, पर उनका भाव तो एक प्रकार का बदला है, स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे। काम पड़ने पर मित्र शत्रु ही बना करते हैं। उनमें सौहार्द धर्ममूलक नहीं है। दोनों परस्पर स्वार्थी हैं। जब स्वार्थ हुआ तो कुछ कपट उसमें अवश्य ही रहेगा। कपट का मन में लेश भी आया कि स्वच्छ स्नेह की जड़ कट गई। जिसमें केवल धर्म ही धर्म हो, जो स्वच्छ स्नेह को दर्पण के

समान प्रकाश कर देनेवाला हो तथा जिसमें बदला पाने की कहीं गंध न हो, वह वही स्नेह है जो दया के मानो साक्षात् स्वरूप माँ में पुत्र के लिए रखती है। इस मातृक स्नेह रूपी मोती की तारीफ़ में पेज पर पेज रँगते जायँ तो भी हम ओर-छोर तक नहीं पहुँच सकते।

[साहित्य-सुमन]

भगवान् श्रीकृष्ण

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

पांच हज़ार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्द इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस परमपावन पर्व को मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन से करोड़ों आर्यजन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगति में निराशा के इस भयानक अन्धकार में, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देख कर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःखदावानल से दग्ध भारतभूमि घनश्याम की अमृत-वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिये कातर स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा भंग की नालिश कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-कारागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने गोपाल की याद में प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवान् के जन्म दिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है, आनन्द बधाई के

दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधि की विडम्बना से प्रभाती के समय विहाग अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शों के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैं, और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित जाति के लिये तो आदर्श हीं उद्धार-रज्जु है। आर्य जाति के लिये आदर्शों के अभाव नहीं हैं। सब प्रकार के, एक से एक बढ़ कर, आदर्श सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण अवतार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—मानते हैं। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आदर्श योगिराज, कर्मयोगी, सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिये जो आदर्श अपेक्षित है वह स्पष्ट रूप में प्रचुर परिमाण में, श्रीकृष्ण चरित में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, योगी कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस भी दृष्टि से देखिये, जिस भी कसौटी पर कसिये, श्री कृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्ण चरित की महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्त्व को हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के आदर्श का अनुसरण करते तो आज इस दयनीय

दशा में न होते। महाभारत के श्रीकृष्ण को भूल कर 'गीतगोविन्द' के कृष्ण का काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुष को 'चोरजारशिखामणि' की उपाधि दे डाली है। पतन की पराकाष्ठा है! कृष्णचरित्र के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री बंकिमचन्द्र ने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिंदू अपने आदर्श को भूल गये और हमने कृष्ण चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी, 'गीतगोविन्द'-निर्माता जयदेव के कृष्ण की नकल करने में सब लग गये पर 'महाभारत' के कृष्ण की कोई याद भी नहीं करता है।"

श्रीकृष्ण को हिंदू-जाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख भी बंकिम ने इस प्रकार किया है—

'पर अब प्रश्न यह है कि भगवान् को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपन में चोर थे, दूध-दही-मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुतेरी गोपियों के पतियों के पतिव्रत धर्म को नष्ट किया, प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिये। क्या इसी का नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्त्व है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियाँ होतीं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है?

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की ऐसी कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय प्राप्त

करते नहीं देखा है। मैं श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ। अँग्रेज़ी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है, यह जानने के लिये मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं वे अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं, उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है। न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरित का मनन करने वालों को श्री बंकिमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिये। आज कल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है। जिसे देखिये वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल-इण्डिया लीडर' है। इस बाढ़ को देख कर चिन्ता के स्वर में कहना पड़ता है—

'लीडरों की धूम है और फालोअर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं यहाँ आखिर सिपाही कौन है?'

पर उनमें कितने हैं जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण नेतृ-चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है ? नेता नितान्त निर्भय, परम निष्पक्ष और विचारों का शुद्ध होना चाहिये ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की पूरी तय्यारियाँ हो चुकी हैं। सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। धर्मराज युधिष्ठिर का सदय हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम को सोच कर विचलित हो रहा है। इस दशा में भी वह सन्धि के लिये व्याकुल हैं। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। श्रीकृष्ण स्वयं सन्धि के पक्ष में थे। सन्धि के प्रस्ताव को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बन कर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध कपट-कुशल और जोते जुआरी के दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बन जाना, जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग में कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत बन कर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किसी ने उचित न समझा, इस पर खूब वाद विवाद हुआ। उद्योग-पर्व का यह प्रकरण, भगवद्यान-पर्व, बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के सन्धि प्रस्ताव को लेकर जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धि के प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की मानने वाला जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राण-संकट की संभावना है, पर कर्तव्यानुरोध से जान पर खेल कर भी उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तो उसने श्रीकृष्ण को साम, दान, दण्ड, भेद-द्वारा जाल में फँसाने का कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्ग में जगह-जगह उनके स्वागत का घूमधाम से प्रबन्ध किया गया। रास्ते की सड़कें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हाथों में है। जो वे चाहेंगे वही होगा। उनकी आज्ञा से पांडव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं। श्रीकृष्ण को काबू में कर लिया जाये तो बिना युद्ध के ही विजय हो सकती है। श्रीकृष्ण के बलबूते पर ही पाण्डव युद्ध के लिये सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर अच्युत श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकने वाले थे। सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। कर्ण, शकुनि आदि अपने साथियों के साथ दुर्योधन सभा से उठ कर चला गया। जब उसने साम, दान से काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने, कैद कर लेने का षड्यन्त्र रचा। उन्हें अपने घर पर निमन्त्रित किया। दुर्योधन की इस दुरभिसन्धि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये। उन्होंने श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे। पर जिस काम को आये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा। वे दुर्योधन के घर पहुँचे और निर्भयता पूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया, पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे। दुर्योधन ने भोजन के लिये आग्रह किया। इस पर जो उचित उत्तर भग-

वान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा—

'संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥'

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में। तुम हम से प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें ?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया। वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया।

हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे। दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समानरूप से प्रयत्नशील थे। लोक-संग्रह के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे। पर उन्होंने आजकल के ज़मानासाज़ लीडरों की तरह सर्वप्रियता या हरदिलअज़ीज़ी में फँसकर अपने करारेपन को दाग नहीं लगाया। मेलमिलाप की मोह माया में भूलकर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बनाकर अपनी समदर्शिता या उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य-पराङ्मुख न हुए। एक आजकल के लीडर हैं; किसी दुर्घटना को रोकने

के लिये तार पर तार दिये जाते हैं। पधारने की प्रार्थना की जाती हैं, पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कह कर टाल जाते हैं। पहुँचते भी हैं तो उस वक्त जब मार-काट हो चुकती है। सो भी सरकारी तहकीक़ात के बहाने लीपापोती के लिये लेक्चर देना और तहकीक़ात के लिये पहुँच जाना, लीडरों के लिये इतना ही काफ़ी है। गोली बीस क़दम तो बन्दा तीस कदम।

श्रीकृष्ण ने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी, दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और एक ये आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमन्त्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं! इन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है :—

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्कामके साथ।
रञ्ज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।'

निःसन्देह सभी लीडर ऐसे नहीं हैं, कुछ इसका अपवाद भी हो सकते हैं।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित्र केतत्त्व को सब से अधिक समझा था और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का यही कारण था। महाभारत का भगवच्चरित्र उनके मन की सब से प्रिय वस्तु थी। मालवीय जी महाराज और श्री लाला जी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

आर्यजाति के लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्णचरित्र को अपना आदर्श मान कर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे। [पद्य-पराग]

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

(पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। ज़रा सप्तर्षि-नाम के तारों को तो देखिये। वे आसमान में लम्बे पड़े हुए हैं। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका-सा है और अगला ऊपर को। वहीं, उनके अधोभाग में, छोटा-सा ध्रुव-तारा कुछ-कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है—ऐसी गाड़ी के सदृश जिसका जुआँ ऊपर को उठ गया हो। इसी से उनके और ध्रुव-तारा के दृश्य को देख कर श्रीकृष्ण के बालपन की एक घटना याद आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिये एक बार गाड़ी का रूप बनाकर शकटासुर नाम का एक दानव उसके पास आया। श्रीकृष्ण ने पालने में पड़े देखते-देखते, उसे एक लात मार दी। उसके आघात से उसका अग्रभाग ऊपर को उठ गया और पश्चाद्भाग खड़ा ही रह गया श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। वही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की अवस्थिति का है! वे तो कुछ उठे हुए-से लम्बे पड़े हैं, छोटा सा ध्रुव उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व-दिशारूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस-सी रही है। चन्द्रमा अपने ही

रङ्ग में मस्त मालूम होता है। अस्त समय होने के कारण उसका बिंब तो लाल है; पर किरणें उसकी पुराने कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफ़ेद हैं। स्वयं सफ़ेद होकर भी बिम्ब की अरुणता के कारण वे कुछ-कुछ लाल भी हैं। कुंकुममिश्रित सफेद चन्दन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफेद किरणों से चन्द्रमा पश्चिम दिशा का शृङ्गार-सा कर रहा है। उस पर चन्दन का लेप सा लगा रहा है। अरुणोदय हो जाने के कारण पूर्वदिशा रूपिणी स्त्री का मुख, इस समय मदमाती स्त्री ही के मुख के सदृश लाल हो रहा है।

जब कमल शोभित होते हैं तब कुमुद नहीं और जब कुमुद शोभित होते हैं तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक सी नहीं रहती। परन्तु, इस समय, प्रातःकाल, दोनों में तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बन्द होने को हैं पर अभी पूरे बन्द नहीं हुये। उधर कमल खिलने को हैं पर अभी पूरे खिले नहीं। एक की शोभा आधी ही रह गई है और दूसरे को आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनों ही पर मंडरा रहे हैं और गुञ्जा-रव के बहाने दोनों ही की प्रशंसा के गीत गा रहे हैं। इसी से इस समय, कुमुद और कमल दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे हैं।

सायङ्काल जिस समय चन्द्रमा का उदय हुआ था उस समय वह बहुत ही लावण्यमय था। क्रम-क्रम से उसकी दीप्ति उसकी सुन्दरता—और भी बढ़ गई। वह कोकाबेलियों का विकास करने लगा। इस तरह सारी रात बीत गई। वह थक भी गया, शरीर पीला पड़ गया, कर, किरण-जाल, स्रस्त

अर्थात् शिथिल हो गये। इससे वह पश्चिम दिशा रूपी पलंग की गोद में जा गिरा। यह शायद उसने इस लिये किया कि रात-भर के जगे हैं, लाओ अब आराम से सो जायँ।

अन्धकार के विकट वैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखाई भी नहीं दिये। तथापि उनके सारथि अरुण ही ने, उनके अवतीर्ण होने के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापी पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभव करने की शक्ति रखते हैं उनके अग्रगामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वे खुद ही उसके विपत्तियों का उच्छेद कर डालते हैं। इस तरह, अरुण के द्वारा अखिल अन्धकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफ़त आ गई। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गई दिन और रात की सन्धि, अर्थात प्रातःकालीन सन्ध्या। सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश सन्ध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिये। मधुप-मालाओं से छाये हुये नील कमलों ही को काजल लगी हुई इसकी आँखें जानिये। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को इसकी तोतली वोली अनुमान कीजिये। ऐसी सन्ध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही है तब पक्षियों के कोलाहल के वहाने यह कहती हुई कि 'अम्मा, मैं भी आती हूँ', वह भी उसी के पीछे दौड़ गई।

अन्धकार गया। रात गई। प्रातःकालीन सन्ध्या भी गई। विपत्ति-दल के एक दम ही पैर उखड़ गये। तब रास्ता

साफ़ देख, वासर-विधाता भगवान् भास्कर ने निकल आने की तय्यारी की। कुलिशपाणि इन्द्र की पूर्व दिशा में, नये सोने के समान उनकी पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखाई दिया। आपने बड़वानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य्य के उस लाल-पीले किरण-समूह को देख कर ऐसा मालूम होने लगा जैसे वही वडवाग्नि समुद्र की जलराशि को जला कर, त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से, समुद्र के ऊपर उठ आई हो ! धीरे २ दिननाथ का बिम्ब क्षितिज के ऊपर आ गया। तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुये। ऐसा मालूम हुआ जैसे सूर्य्य का वह बिम्ब एक बहुत बड़ा घड़ा है और दिग्वधुयें ज़ोर लगा कर समुद्र के भीतर से उसे खींच रही हैं। सूर्य्य की किरणों ही को आप लम्बी-लम्बी मोटी रस्सियाँ समझिये। उन्हीं से उन्होंने बिम्ब को बाँध सा दिया है और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने, वे यह कह-कह कर शोर मचा रही हैं कि खींच लिया है, कुछ ही बाक़ी है, ऊपर आने ही चाहता है, ज़रा और ज़ोर लगाना।

दिगंगनाओं के द्वारा खींच-खींच कर किसी तरह सागर की सलिलराशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य्य-बिंब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखाई दिया। अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का क्यों है। हमारी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब वह पड़ा था तब वाडवाग्नि की ज्वाला ने इसे तपा कर खूब दह-

काया होगा । तभी तो खैर खदिर के जले हुए कुंदे के अंगार के सदृश, लालिमा लिये हुए यह इतना शुभ्र दिखाई दे रहा है । अन्यथा इसके इतने अंगार-गौर होने का और क्या कारण हो सकता है ?

सूर्य्य-देव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ़ के लायक है । तरफ़दारी तो उसे छू तक नहीं गई—पक्षपात की तो गन्ध तक उसमें नहीं । देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ, पर क्षण ही भर में उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, किन्तु सभी पर्वतों के शिखरों पर फैलाकर उन सब की शोभा बढ़ा दी । उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों—अपने मस्तकों—पर दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों । सच है, उदारशील सज्जन अपने चारु चरितों से अपने ही उदय-देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यायित करते हैं ।

उदयाचल के शिखर-रूप आँगन में बालसूर्य्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों को बड़ा प्रमोद हुआ । सुन्दर बालक को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है । अतएव उन्होंने अपने कमल मुख के विकास के बहाने हँस हस कर उसे बड़े ही प्रेम से देखा । यह दृश्य देख कर माँ के सदृश अन्तरिक्ष देवता का हृदय भर आया । वह पक्षियों के कल-रव के मिस बोल उठी—'आ जा' 'आ जा, आ बेटा, आ ।' फिर क्या था, बाल सूर्य्य बाल-लीला दिखाता हुआ, झट अपने मृदुल कर किरणें फैला कर, अन्त-

रिक्त की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर ज़रा ही देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य्य के दिखाई देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी तो वह जल-परिपक्व मदिरा के रंग सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा जैसा सूर्य्य ने अपने किरण-बाणों से अन्धकाररूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो।

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिए और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परन्तु सूर्य्य का उदय अन्धकार का नाश करने ही के लिए होता है और तारों की श्रीवृद्धि अन्धकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार होकर सूर्य्य को अन्धकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा—उसे उनको भी ज़बरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा। बात यह है कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को सम्पत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही उनका भी विनाशसाधन करना ही पड़ता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्य्योदय होते ही अन्धकार भयभीत हो कर भागा। भाग कर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुज़ारा न हुआ। सूर्य्य यद्यपि बहुत दूर आकाश में था तथापि उसके प्रबल तेजःप्रताप ने छिपे हुए अन्धकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नहीं, किंतु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य्य और चन्द्रमा, ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के समान हैं। उनमें से सहस्रकिरणात्मक-मूर्तिधारी सूर्य्य ने ऊपर उठ कर जब अशेष लोकों का अन्धकार दूर दिया तब खूब ही चमक उठा। उधर बेचारा चन्द्रमा किरणहीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्व और दूसरी तेजोहीन हो गई। अतएव ऐसा मालूम हुआ जैसे एक आँख प्रकाशवती और दूसरी अन्धी होने से आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभासम्पन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों को अत्यानन्द ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चन्द्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है! दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नहीं बनता।

वह बड़ा ही विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य्य को आप आकाश गृह का पति समझ लीजिये और यह भी समझ लीजिये कि पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश चला गया था। मौका पाकर इसी बीच उसके घर चंद्रमा रूपी चोर आ पहुँचा। पर ज्यों ही सूर्य्य अपना प्रवास समाप्त करके, सवेरे, पूर्व दिशा में, फिर आ धमका त्यों ही उसे देख चंद्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह को चोरी के साधनों के सदृश छोड़ गर्दन झुका कर, वह पश्चिम-दिशा रूप खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान् मधुसूदन जिस समय कल्पांत में, समस्त लोकों का प्रलय, बात की बात में कर देते हैं, उस समय अपनी समधिक अनुरागवती श्री, लक्ष्मी, को धारण करके—उन्हें साथ लेकर—क्षीर सागर में अकेले ही जा विराजते हैं। दिन चढ़ आने पर महिमामय भगवान् भास्कर भी, उसी तरह एक क्षण में, सारे तारा-लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री, शोभा के सहित, क्षीर सागर ही के समान आकाश में, देखिये, अब ये अकेले ही मौज कर रहे हैं।

(सरस्वती)

क्रोध

(पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

याद रखिए, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है। क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार की प्रचंड आँधी है। जब क्रोध रूपी आँधी आती है तब दूसरे की बात नहीं सुनाई पड़ती। उस समय कोई चाहे कुछ भी कहे, सब व्यर्थ जाता है। आँधी में भी किसी की बात नहीं सुन पड़ती। इसलिए ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे जिसमें क्रोध-रूपी आँधी के समय वह उनसे भीतर से सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान् शत्रु से घेर लिया जाता है, तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर की कोई वस्तु काम नहीं आती। इसी लिए हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता होती है।

क्रोध इतना बुरा विकार है कि वह सुविचार को जड़ से नाश करने की चेष्टा करता है। वह विष है, क्योंकि उसके नशे में भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह मूर्तिमान् मत्सर है

उसके कारण क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य का भी लोग मत्सर करने लगते हैं। क्रोधी मनुष्य प्रत्येक बात पर, प्रत्येक दुर्घटना पर और प्रत्येक मनुष्य पर, बिना कारण अथवा बहुत ही थोड़े कारण से बिगड़ उठता है। यदि क्रोध का कारण बहुत बड़ा हुआ तो वह उग्र रूप धारण करता है और यदि उसका कारण छोटा हुआ तो चिड़चिड़ाहट ही तक उसकी नौबत पहुँचती है। अतएव, या तो वह प्रचण्ड होता है या उपहास-जनक। दोनों प्रकार से वह बुरा होता है। क्रोध मनुष्य के शरीर को भयानक कर देता है, शब्द को कुत्सित कर देता है, आँखों को विकराल कर देता है, चेहरे को आग के समान लाल कर देता है, बातचीत को बहुत उग्र कर देता है। क्रोध न तो मनुष्यता ही का चिह्न है और न स्वभाव के सरल किंवा आत्मा के शुद्ध होने ही का। वह भीरुता अथवा मन की क्षुद्रता का चिह्न है क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक क्रोध आता है, नीरोग मनुष्यों की अपेक्षा रोगियों को, युवा पुरुषों की अपेक्षा वृद्धों को और भाग्यवानों की अपेक्षा अभागियों को, जो मनुष्य क्षुद्र हैं, उन्हीं को क्रोध शोभा देता है, सज्ञान, उदार और सत्पुरुषों को नहीं।

जिसे क्रोध आता है, वह उसे ही दुःखदायक नहीं होता। क्रोध के समय जो लोग वहाँ होते हैं, उनको भी वह दुःखदायक हो जाता है। चार आदमियों के सामने किसी छोटे से अपराध पर नौकर-चाकरों को बुरा-भला कहना और उन पर क्रोध करना किसी को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार क्रोध करना और उचित-अनुचित बोलना असभ्यता का लक्षण है।

क्रोध ही के कारण स्त्री-पुरुष में बिगाड़ हो जाता है। क्रोध ही के कारण मित्रों का साथ, सभा-समाज का जाना और जान-पहचान वालों के साथ उठना-बैठना असह्य हो जाता है। क्रोध ही के कारण सीधी-सादी हँसी की बातों से भयानक और शोककारक घटनाएँ पैदा हो जाती हैं। क्रोध ही के कारण मित्र द्रोह करने लगते हैं। क्रोध ही के कारण मनुष्य अपने आपको भूल जाता है, उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है और बात-चीत करने में वह कुछ का कुछ कहने लगता है। क्रोध ही के कारण मनुष्य, किसी वस्तु का चुपचाप ज्ञान प्राप्त न करके, व्यर्थ झगड़ा करने लगता है। जिनको ईश्वर ने प्रभुता दी है, उनको क्रोध घमंडी बना देता है। क्रोध सारासार-विचार पर परदा डाल देता है, उपदेश और शिक्षा को क्लेश-दायक कर देता है, श्रीमान् को द्वेष का पात्र कर देता है। जो लोग भाग्यवान् नहीं, वे यदि क्रोधी हुए तो उन पर कोई दया नहीं करता। क्रोधी अनेक बुरे विकारों की खिचड़ी है। उसमें दुःख भी है, द्वेष भी है, भय भी है, तिरस्कार भी है, घमण्ड भी है, अविवेकता भी है, उतावली भी है, निर्बोधता भी है। क्रोध के कारण दूसरों को चाहे जितना क्लेश मिले, तथापि जिस मनुष्य को क्रोध आता है, उसी को सब से अधिक क्लेश मिलता है; और उसी की अधिक हानि भी होती है।

क्रोध से बचने अथवा क्रोध को दूर करने के लिये क्रोध करना उचित नहीं। अपने ऊपर भी क्रोध करने से क्रोध बढ़ता है, घटता नहीं।

क्रोध से बचने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह अपने मन में दृढ़ता से पहले यह प्रण करे कि वह उस दिन क्रोध न करेगा, फिर चाहे उसकी कितनी हानि क्यों न हो। इस प्रकार प्रण करके उसे सजग रहना चाहिए। एक दिन बहुत नहीं होता। यदि वह एक दिन भी क्रोध को जीत लेगा तो दूसरे दिन भी वैसा ही प्रण करने के लिए उसमें साहस आ जाएगा तब उसे दो दिन क्रोध न करने के लिए प्रण करना उचित है। इस भाँति बढ़ाते-बढ़ाते क्रोध न करने का स्वभाव पड़ जाएगा। क्रोध मनुष्य का पूरा शत्रु है। उसके कारण मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। जिसने क्रोध को जीत लिया उसके लिए कठिन से कठिन काम करना सहल है।

क्रोध को बिलकुल ही छोड़ देना भी अच्छा नहीं। किसी को बुरा काम करते देख उसे पहले मीठे शब्दों से उपदेश देना चाहिये। यदि ऐसे उपदेश से वह उस काम को न छोड़े तो उस पर क्रोध भी करना उचित है। जिस क्रोध से अपने कुटुम्बियों अपने इष्ट-मित्रों, अथवा दूसरों का आचरण सुधरे, ईश्वर में पूज्य-बुद्धि उत्पन्न हो, दया, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो, वह क्रोध बुरा नहीं।

(सरस्वती)

कर्तव्य और सत्यता

(बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०)

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में कर्तव्य का करना बिना बलात्कार के नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम-प्रथम मन आपही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरम्भ प्रथम घर ही से होता है क्योंकि यहाँ पहले लड़कों का कर्तव्य माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्य को देखते हैं। इसलिये संसार में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है। जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का परम धर्म है, और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य करना न्याय पर निर्भर है। वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर

प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है। तो वह बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। लड़को, तुमने देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तो वह मन में डरा करता और पीछे से आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कहकर खाना था। इसी प्रकार एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुराकर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर या पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम चोरी कर बैठते हैं तो हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसी के अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रक्खो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तो कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्मपालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा। पर इससे तुम अपना साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठगविद्या और असत्यरता, बेईमानी से धनाढ्य हो गये और तुम कङ्गाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी, खुशामद करके बड़ी बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला, और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य-धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़कर सन्तोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इसलिए हम लोगों को इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें, कभी उसके पथ पर से न हटें, चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। धर्मपालन करने के मार्ग में सब से अधिक बाधा चित्त की चञ्चलता, उद्देश की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो, आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती हैं। बस मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अन्त में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे बिना अपना स्वार्थ सोचे झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तो फिर किसी बात का भी भय न रहेगा।

देखो, इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गये हैं, जिन्होंने कि संसार का उपकार किया है और उसके लिये आदर और सत्कार पाया है, उन सभी ने अपने कर्तव्य को सब से श्रेष्ठ माना है, क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं

और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अंगरेज़ी जहाज़ में, जब कि वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा उद्योग किया गया। पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तो जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ाकर बिदा कर दी गईं और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राणरक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया। पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे और उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग न किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसीलिये उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इसके विरुद्ध फ्रांस-देश के रहने वालों ने एक डूबते हुए जहाज़ पर से अपने प्राण तो बचाये, किन्तु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और ब` थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घना सम्बन्ध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है, वह अपने कामों

और वचनों से सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिए हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी बर्ताव नहीं करना चाहिए। अतएव सत्यता को सब से ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं, झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कायरता के कारण होती है। बहुत-से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब कि नौकर भी उनसे अपने लिए झूठ बोलें।

बहुत-से लोग झूठ की रक्षा नीति और आवश्यकता के बहाने करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बना कर कहना नीति के अनुसार समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत-से लोग किसी बात को सत्य-सत्य तो कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा फिरा कर कहते हैं कि जिससे सुनने वाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार भी कम नहीं।

संसार में ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपा

कर धोखा देने वा भूठ बोल कर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और सन्ताप के फैलाने में मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का भूठ बोलना स्पष्ट भूठ बोलने से अधिक निन्दित और कुत्सित कर्म है।

भूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, भूठमूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य को न बोलना इत्यादि। जब कि ऐसा न करना धर्म के विरुद्ध है तो ये सब बातें भूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वे ही काम हैं जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन समझाते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हम ने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को मूर्ख बनाते हैं और अन्त में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे, जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो कविता का आडम्बर रखने वाला यह मनुष्य भूठा है। और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों

की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडम्बर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य पालन कर सकता है।

इस लिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सब से श्रेष्ठ मानें कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो।

सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्द-पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा सन्तुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

(स्माइल्स कैरेक्टर के आशय पर)

सुख और शान्ति

(बाबू रामचन्द्र वर्मा)

संसार में जितने काम होते हैं सब केवल सुख की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। धनोपार्जन, अध्ययन, व्यापार, दान, धर्म्म, विवाह, मद्यपान, आत्महत्या, द्वेष, निन्दा सभी अच्छी और बुरी बातें एक मात्र सुख की प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। लेकिन जिस सुख की संसार के प्रत्येक मनुष्य को इतनी चाह है उसी के सम्बन्ध में एक बात बड़ी ही विलक्षण है। वह यह कि सुख का स्वरूप बहुधा निश्चित और सर्वसम्मत नहीं है, सभी लोग उसके सम्बन्ध में बड़े ही भ्रम में पड़े रहते हैं। यह भ्रम केवल सुख का सच्चा स्वरूप न जानने के कारण ही है और इसी लिए यदि एक मनुष्य को कौड़ी-कौड़ी जमा करके लखपती बनने में सुख जान पड़ता है तो दूसरा अपने पूर्वजों की लाखों की सम्पत्ति बहुत ही थोड़े समय में मद्यपान आदि में नष्ट कर देने में ही सुख समझता है। एक मनुष्य यदि पशु-पक्षियों और छोटे-छोटे जीवों तक पर दया करने और उनके प्राणों की रक्षा करने में सुख मानता है तो दूसरा मनुष्य भाइयों का खून बहाने में ही सुखी होता है। यदि किसी को इन्द्रिय-तृप्ति में सुख मिलता है तो किसी को इन्द्रिय-दमन में। कोई बड़े महलों में रहने से ही सुखी होता है और कोई झोंपड़ों में ही पड़े रहने में सुख मानता है।

लेकिन सुख का वास्तविक स्वरूप समझने वाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। सब लोग जिस बात में सुख समझते हैं उसी में लग जाते हैं। पर उनका समझना भ्रमात्मक होता है, इसी लिए अन्त में चलकर उन्हें दुःख मिलता है। धन को सुख समझने वाला बहुत सा धन एकत्र करता है, पर अन्त में जब उसका जवान लड़का मर जाता है या वह स्वयं किसी भारी रोग से पीड़ित होता है, तब वह धन उसे सुखी नहीं कर सकता। कभी-कभी तो वह धन उसके लिए और भी दुःख का कारण हो जाता है। चोर या डाकू आकर उसी धन के लिए उसे अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाते हैं और उसे समझना पड़ता है कि यदि मेरे पास यह धन न होता तो मैं अपेक्षाकृत अधिक सुखी होता। इन्द्रिय-तृप्ति में सुख समझने वाला मनुष्य भी सदा दुखी ही रहता है, क्योंकि ज्यों-ज्यों वह विषय-वासनाओं में फँसता जाता है त्यों-त्यों उन वासनाओं की वृद्धि होती जाती है। वह सुख तो समझता है इन्द्रियों की तृप्ति में, पर इन्द्रियों की तृप्ति होती नहीं, उलटे वासनायें बढ़ती जाती हैं, इस लिए उसे सुख के बदले दुःख ही मिलता है। इन्हीं सब विरोधों और कठिनाइयों को देखकर विद्वानों ने चिन्तन पूर्वक निश्चय किया है कि संसार के बाह्य पदार्थों के साथ वास्तविक सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुख का मुख्य सम्बन्ध मन से ही है। इसी लिए भगवान् मनु ने भी सुख और दुःख का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् जो दूसरों, बाह्य पदार्थों की अधीनता में है वह सब दुःख है और जो अपने मन के अधिकार में है वह सुख है। सुख और दुःख संक्षेप में यही लक्षण है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी सुख का लक्षण कुछ इसी से मिलता-जुलता निश्चित किया है। उनके मत में भी सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं है। वे तो सुख को एक मानसिक अवस्था मात्र मानते हैं। मन की उपमा वे एक शीशे से देते हैं। शीशा जब किसी खास रुख में रक्खा जाय तब वह प्रकाशित होता है, और इसके विपरीत यदि दूसरे रुख में रक्खा जाय तो वह अप्रकाशित रहता है। यही दशा मन की भी है। उसे प्रकाशित या सुखी रखने के लिए एक विशिष्ट दशा में रखने की आवश्यकता होती है। यदि उस दशा से भिन्न वह किसी और दशा में रक्खा जाय तो संसार का कोई बाह्य पदार्थ उसे सुखी या सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यही कारण है कि बहुत से लोग धन, बल, स्वास्थ्य, परिवार और सम्मान आदि सब कुछ प्राप्त करके भी सुखी नहीं होते— उनकी आत्मा को कभी किसी दशा में शान्ति नहीं मिलती और इसी प्रकार बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं जो सभी दृष्टियों से बहुत ही नीच दशा में रह कर भी सदा सुखी रहते हैं। इस अवसर पर हमें फ़ारस के एक बहुत बड़े बादशाह का क़िस्सा याद आ गया है। वह सुखी होना चाहता था और बड़े-बड़े हकीमों और दानाओं से उसने सुख की प्राप्ति का उपाय पूछा था। सब हकीमों और दानाओं ने परामर्श करके अंत में कहा कि यदि किसी सुखी मनुष्य का कुरता

मिल जाय तो उसे पहन कर आप भी सुखी हो सकते हैं। बादशाह ने समझा, बस अब काम हो चला, जहाँ मुझे किसी सुखी मनुष्य का कुरता मिला, वहाँ मैं भी सुखी हो जाऊँगा। अब सुखी मनुष्य की खोज होने लगी। सारा राज्य ढूँढ़ डाला गया, पर कहीं कोई सुखी मनुष्य न मिला। सब लोग अपना-अपना दुखड़ा रोते थे। सुखी और उसका कुरता कहाँ से मिलता ? अन्त में बहुत ढूँढ़ने पर एक खेतिहर मिला जो खेत जोत कर घर लौट रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि उसे किसी प्रकार का दुःख या कष्ट नहीं है और वह सब प्रकार से सुखी है। बादशाह के नौकरों ने उससे कहा—भाई, तुम हमें अपना कोई फटा पुराना कुरता दे दो हम उसे बादशाह को पहना कर सुखी करेंगे। खेतिहर ने उत्तर दिया—भाई, मैंने तो आज तक कभी कोई कुरता बनवाया या पहना ही नहीं, मैं कुरता कहाँ से दूँ ?

कोई मनुष्य संसार को दुःख पूर्ण और विपत्तियों का घर समझता है और कोई सुखपूर्ण तथा सब प्रकार की सुविधाओं का केन्द्र मानता है। इसी प्रकार की और भी अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सुख का सम्बन्ध बहुत से अंशों में केवल मन से है, बाह्य पदार्थों से उसका कोई सरोकार नहीं है। जो मनुष्य अपने मन और विचारों को वश में रख सकता है वही सदा सुखी भी रह सकता है। इस प्रकार सुखी होना मानो एक तरह की विद्या या कला पर निर्भर है। जो मनुष्य यह विद्या या कला जानते हैं, वे प्रायः सभी दशाओं में परम प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते हैं। उन्हें चारों

ओर सुख और आनन्द ही दिखाई देता है। उन पर चाहे कैसी ही विपत्ति क्यों न आ पड़े वे सदा प्रसन्न ही रहते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तव में ईर्ष्या के पात्र होते हैं।

मनुष्य की सदा प्रसन्न रहने की वृत्ति कुछ तो स्वाभाविक और जन्मतः होती है और कुछ सम्पादित भी होती है। किसी बात का अच्छा या बुरा परिणाम निकालना स्वयं हमारे हाथ में हैं। विशेषतः अपने जीवन को सुख पूर्ण या दुःख पूर्ण बनाना तो और भी हमारे ही अधिकार में है। संसार में सुख भी है और दुःख भी। उन दोनों में से किसी एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग हमारे ही हाथ में है। हम अपनी मनोवृत्ति को सहनशील और सुखात्मक भी बना सकते हैं और असहनशील तथा दुःखात्मक भी। जो मनुष्य सदा प्रसन्न और सुखी रहना जानता है, कठिन से कठिन विपत्ति के समय भी वह कभी नहीं घबराता। वह प्रसन्नता उसका बोझ हलका कर देती है और उसे विपत्तियों का सामना करने में समर्थ बनाती है। लेकिन जो मनुष्य सदा उदास रहता है और जिसे संसार में दुःख ही दुःख दिखाई देता है; परम उत्कृष्ट सुख भी उसे कभी प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त प्रसन्न-वृत्ति से सदाचार और सद्गुणों में भी बहुत वृद्धि होती है। एक विद्वान् की सम्मति है कि जो मनुष्य सदा प्रसन्न रहेगा उसमें कुछ न कुछ गुण अवश्य होंगे। कार्लाइल का मत है कि जो मनुष्य प्रसन्न चित्त होता है उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होता। मनुष्य के और चाहे कितने सद्गुण क्यों न हों, पर जब तक वह प्रसन्न

और सुखी रहना न जानता हो तब तक वह पूर्ण सद्गुणी नहीं कहा सकता। मनुष्य में जब तक सद्गुणों के साथ सुस्वभाव न हो तब तक काम नहीं चल सकता और सुस्वभाव की सबसे अधिक उत्पत्ति प्रसन्न वृत्ति से ही होती है। दुःखरूपी अंधकार का नाश करने के लिये प्रसन्न वृत्ति मानो सूर्य्य है।

दुःख के कारण मनुष्य रोगी रहता है और उसकी आयु घट जाती है। उसके चेहरे पर कान्ति नहीं रहती और प्रायः उसकी बुद्धि भी मारी जाती है,लेकिन प्रसन्नता या सुख का परिणाम इससे विपरीत होता है। जो मनुष्य सदा प्रसन्न और सुखी रहता है वह रोगों से भी बचा रहता है और उसकी आयु भी बढ़ती है। उसका मुख सदा प्रफुल्लित और कान्तिमान रहता है और उसे सदा अच्छी अच्छी बातें सूझती रहती हैं।

जिस सुख की संसार को इतनी अधिक आवश्यकता और खोज है वह सुख और कुछ नहीं, यही चित्त की प्रसन्नता है। दुःखों से बचने का सबसे अच्छा उपाय महाभारत में दिया है। उसमें एक स्थान पर लिखा है—

भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।

अर्थात् मन में दुःखों की चिन्ता न करना ही उसके निवारण का सबसे अच्छा उपाय है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य दुखों को अपने चित्त से भुला सकता है—प्रसन्न और आनन्दित हो सकता है—वही सुखी है। विपत्तियों और कष्टों का सामना तो सभी को करना पड़ता है उससे कोई बच नहीं सकता। अब मनुष्य चाहे उसे प्रसन्नता और सुख पूर्वक झेले और चाहे खेद और दुःख पूर्वक। हमारा खिन्न मन हमें दुःखी बना देता है और

प्रसन्न मन हमें सुखी कर देता है। सुख की उत्पत्ति हमारे मन से ही होती है, वह बाहर से हमारे शरीर में भरा नहीं जा सकता। जो मनुष्य केवल अपने मन की सहायता से ही सुखी नहीं हो सकता वह और भी किसी उपाय से सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य चाहे प्रसन्न हो या न हो, पर यदि वह दुःखों का ध्यान छोड़ दे तो अवश्य सुखी रहता है।

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मन को इतना उच्च बना लेना कि उसे सुख और दुःख का बोध ही न हो, सर्व साधारण के लिए बहुत ही कठिन है। उसके लिए बहुत ही उच्च शिक्षा और विचारों आदि की आवश्यकता होती है। साथ ही अपने चित्त को भी सदा प्रसन्न ही रखना और उस पर दुःख की कलुषित छाया न पड़ने देना भी सहज काम नहीं है। जो लोग सदा संसार के झंझटों और बखेड़ों में फँसे रहते हों, उनके लिए तो सदा प्रसन्न चित्त और फलतः सुखी रहना और भी कठिन है। यद्यपि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो यही निश्चित होगा कि बाह्य पदार्थों का सुख के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, पर तो भी कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं जिनका साधारण रूप से चित्त वृत्ति पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है और इसी लिये स्थूल दृष्टि से जो हमारे सुख और दुःख का कारण कही जाती हैं। उन बातों का इस स्थल पर संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक जान पड़ता है। सदाचार, परिस्थिति और कामना; ये तीन बातें ऐसी हैं जिनका हमारे सुख के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध है। सदाचार की उपयोगिता और महत्ता आदि के साथ सम्बन्ध में इस पुस्तक के आरम्भ

में ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। लेकिन सदाचार का सब से बड़ा गुण यह है कि वह मनुष्य को सदा सुखी रखता है और कभी उसे दुःखी नहीं होने देता। सदाचार का सुख के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह कभी विच्छिन्न ही नहीं हो सकता। जो मनुष्य सदा सत्कर्म्म करता है और जिसका अन्तः-करण सदा शुद्ध रहता है वह कभी दुःखी हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य सदा निःस्वार्थ भाव से परोपकार में लगा रहता है अथवा जो कभी दूसरों का बुरा नहीं चेतता है वह भी सुखी ही रहता है। जो मनुष्य अपने विवेक की आज्ञाओं और अपने कर्तव्यों का पालन करता है वह भी कभी दुःखी नहीं रहता। जिसके आशय उदार और उच्च होते हैं और जो समदर्शी होता है उसके पास भी कभी दुःख फटकने नहीं पाता। लेकिन इसके विरुद्ध जो मनुष्य दुराचारी होता है, सदा कुकर्म्मों में फँसा रहता है, लोगों के साथ ईर्ष्या करता और उन्हें हानि पहुँचाने के प्रयत्न में लगा रहता है, अपने हृदय तथा विचारों को सदा नीच और संकुचित बनाये रखता है वह सदा दुःखी बना रहता है, स्वप्न में भी वह सुख या शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिस मनुष्य की परिस्थिति अच्छी होती है वह भी बहुधा सुखी और सन्तुष्ट ही रहता है। परिस्थिति से हमारा तात्पर्य आर्थिक तथा शारीरिक अवस्था, अच्छी आदतों, मित्रों, सम्बन्धियों, विद्या और ज्ञान आदि से है। जिस मनुष्य के पास उसकी आवश्यकता के अनु-सार यथेष्ट धन होता है वह अपनी कामनाओं को यथेच्छ पूर्ण कर सकता है और फलतः सुखी हो सकता है। लेकिन यदि हमारे

पास अपनी भोगेच्छाओं को तृप्त करने के लिए यथेष्ट धन न भी हो, पर हम में धैर्य्य और सन्तोष हो तो भी हम सुखी रह सकते हैं। इसी प्रकार शारीरिक आरोग्यता पर भी बहुत से अंशों में सुख निर्भर करता है। एक कहावत है—'एक तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है।' यदि मनुष्य के पास बहुत कुछ धन सम्पत्ति हो, बहुत से बाल-बच्चे भी हों, अच्छे अच्छे अनेक मित्र भी हों, पर वह स्वयं सदा रोगी रहता हो तो उसके सुखी होने में बहुत कुछ बाधा पड़ सकती है। जिस समय शरीर में तीव्र वेदना हो उस समय उसे किसी पदार्थ से सुख नहीं मिल सकता। अच्छी आदतें सदाचार के ही अन्तर्गत आ जाती हैं, अतः वे भी हमें सुखी बनाने में बहुत कुछ सहायक होती हैं। कदाचित कोई बुद्धिमान् यह कहने या मानने के लिए तैयार न होगा कि बुरी आदतें रख कर भी कोई मनुष्य सुखी या प्रसन्न हो सकता है। अच्छे मित्रों से हमारा कल्याण होता है और हमें कितना सुख मिल सकता है, यह पहले किसी प्रकरण में सत्संगति का महत्त्व समझते हुए बतलाया जा चुका है। अच्छे लोगों का सहवास हमें सदा सुखी रक्खेगा। पर यदि हम बुरे लोगों का साथ करेंगे तो चाहे स्वयं हमारा और कोई अपराध हो या न हो, केवल बुरों की संगति के अपराध के कारण ही हम कभी न कभी भारी विपत्ति में फँस जायँगे और हमें बहुत दुःख भोगना पड़ेगा। सुखी होने के लिए अच्छे परिवार की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। यहाँ कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि अच्छे परिवार के सब लोग इसी संसार में स्वर्ग का सुख भोग लेते हैं। दुष्ट परिवार के लोग नरक के

सारी यातनाओं का यहीं अनुभव कर लेते हैं। विद्या एक ऐसी चीज है जो और दशाओं में तो हमें प्रसन्न तथा सुखी रखती है, पर साथ ही विपत्ति और कष्ट के समय भी वह हमें सुख पहुँचा सकती है और ज्ञान तो हमें दुःख का अनुभव ही नहीं होने देता। यदि हम चाहते हों कि संसार में हमारे लिए दुःख का कहीं नाम भी न रह जाय, हमें चारों ओर केवल सुख दिखाई दे, तो हमें चाहिए कि हम सब काम छोड़ कर केवल ज्ञानार्जन करें। सुखी होने का इससे अच्छा और कोई उपाय ही नहीं है।

जो मनुष्य सदा अच्छी बातें सोचता रहता है और जिस के मन में कभी बुरे विचार नहीं उठते, वह सदा प्रसन्न और सुखी रहता है। रस्किन ने कहा है,—"हम लोग प्रायः यह शिकायत किया करते हैं कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, हमारे पास सुख के साधन नहीं हैं, हमारे पास धन नहीं है, आदि आदि। लेकिन हम लोगों में से कौन मनुष्य ऐसा है जो यह समझता है कि मुझे शान्ति की आवश्यकता है? यदि आप शान्ति प्राप्त करना चाहते हों तो उसके दो उपाय हैं, जिनमें से एक तो बिलकुल आपके हाथ में ही है और वह उपाय है, सदा मन में अच्छे विचार रखना। दरिद्रता के दुःखों आदि से बचने के लिए हम सुन्दर विचारों के बड़े बड़े प्रासाद बना सकते हैं।" और वास्तव में जो मनुष्य सदा अच्छी अच्छी बातें सोचा करता हो उसकी आत्मा सदा बहुत ही शान्त और प्रसन्न रहती है।

बुरे विचारों से बचने और सदा प्रसन्न रहने में मनुष्य को प्रकृति प्रेम से बड़ी भारी सहायता मिलती है और उसका ज्ञान भी बढ़ता है। एक विद्वान् का मत है—"हम प्रकृति और जीवन, मनुष्य और बालक, कार्य और विश्राम सभी अवस्थाओं और स्थानों में जितना ही अधिक सौन्दर्य्य देखते हैं, उतना ही अधिक मानो हम ईश्वर को देखते हैं।" और यही ईश्वर-दर्शन परम सुख है। पर आजकल हम लोगों में से अधिकांश अपने काम-धन्धे में इतने फँसे रहते हैं कि हमें कभी प्रकृति की शोभा देखने का अवसर ही नहीं मिलता और इसी लिए यह लोग उसका महत्त्व भी भूल गये हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य, फूल पत्ते पौधे, पेड़, मैदान, नदियाँ पहाड़, चिड़ियों का मधुर गान आदि सब ऐसी बातें हैं जिनकी ओर यदि हम कुछ भी ध्यान दें, तो हमारा मन आप उनकी ओर आकृष्ट होने लगता है और उन पर थोड़ा सा विचार करके हम अनन्त सुख, शान्ति और साथ ही साथ शिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं। दुःख से जर्जर मन आत्मा को सुखी और बलिष्ठ करने में प्राकृतिक शोभा अमृत का काम करती है।

बहुत से लोग दिन रात सुख और आनन्द की चिन्ता में ही पड़े रहते हैं और यथा साध्य उनकी प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहते हैं। पर इसका परिणाम प्रायः उलटा ही होता है। वे लोग यह नहीं जानते कि जो मनुष्य सुख के बहुत पीछे पड़ता है, सुख प्रायः आप ही हमें मिलने लगता है। सदा सुख की चिन्ता में ही व्यग्र रहने वाले मनुष्य की अपेक्षा वह मनुष्य कहीं अधिक सुखी रहता है जो कभी सुख का ध्यान भी नहीं

करता। जो मनुष्य सदा सुख की चिन्ता में ही लगा रहता है वह प्रायः मोह, प्रपंच और लोभ आदि में फँस जाता है और उसका उद्देश्य कभी सिद्ध नहीं होगा। सुख ढूँढ़ते ढूँढ़ते वह ऐसे मार्ग में लग जाता है जिसमें केवल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि सुख ऐसी स्थिति में नहीं मिलता जिसमें केवल बड़े बड़े धनवानों और बुद्धिमानों की ही पहुँच हो सकती है। जिस स्थिति तक साधारण मनुष्य बहुत ही सहज में पहुँच सकते हैं, बल्कि यों कहिए प्रायः रहते हैं, उसी स्थिति में सब से अधिक सुख होता है। सुख के साधन तो प्रायः सभी लोगों के पास होते हैं। उसके नये नये साधन ढूँढ़ने में मनुष्य को व्यर्थ परिश्रम न करना चाहिए, बल्कि जो साधन उसे पहले से ही प्राप्त हों उन्हीं से लाभ उठाकर सुखी बनना चाहिए। बहुत से लोग प्राप्त साधनों का पूरा पूरा उपयोग नहीं करते और व्यर्थ नये नये साधन ढूँढ़ते फिरते हैं ऐसे मनुष्यों को यदि सुख के बदले उलटे दुःख ही हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? उचित तो यह है कि मनुष्य नये नये साधनों की प्राप्ति का ध्यान छोड़ दे और जो साधन उसे पहले से प्राप्त हों अथवा जो सामने आजायँ उन्हीं से लाभ उठा कर वह सुखी बने। जंगल में फँसी हुई चिड़ियों को छोड़ कर आकाश में उड़ती हुई चिड़ियों के पीछे दौड़ना मूर्खता नहीं तो और क्या है? हमें सदा सब बातों से सुखी रहने के लिए तैयार रहना चाहिये।

सुखी होने का सब से अच्छा एक और उपाय है। अपनी कामनाओं और आशा आदि को सदा वश में रखना। जो मनुष्य बहुत सी कामनायें और आशायें करेगा उसे प्रायः दुःखी ही रहना पड़ेगा। उसकी सभी कामनायें और आशायें तो पूरी होंगी नहीं, फलतः वह सदा चिन्तित, दुःखी और निराश ही रहेगा। एक विद्वान के मत से कामनायें तीन प्रकार की होती हैं; एक तो प्राकृतिक और आवश्यक, दूसरी प्राकृतिक पर अनावश्यक और तीसरी अप्राकृतिक और अनावश्यक। जो कामनायें प्राकृतिक और अनावश्यक होती हैं, उनकी पूर्ति बिना किसी प्रकार के कष्ट या व्यय आदि के बहुत ही सहज में हो जाती है। जो कामनायें अथवा आवश्यकतायें केवल प्राकृतिक होती हैं, पर आवश्यक नहीं होतीं उनकी पूर्ति के लिए भी विशेष कठिनता नहीं होती, क्योंकि वे प्राकृतिक होती हैं और उनकी पूर्ति स्वयं प्रकृति ही कर लेती है। ऐसी आवश्यकतायें बहुत ही परिमित होती हैं, सहज में पूरी हो जाती हैं और मनुष्य को अच्छी तरह सन्तुष्ट भी कर देती हैं। लेकिन जो इच्छायें बिलकुल अस्वाभाविक और अनावश्यक या निरर्थक होती हैं उनकी न तो कोई हद होती है और न पूर्ति। और उन्हीं कामनाओं के कारण मनुष्य सदा दुःखी रहता है। जो मनुष्य सुखी होना चाहते हों उन्हें चाहिये कि ऐसी कामनाओं से सदा बचे रहें, बल्कि जहाँ तक हो सके अपनी आवश्यकताओं और कामनाओं आदि को परिमित रखना चाहिये। एक महात्मा का कथन है कि—"जिस मनुष्य की

आवश्यकतायें जितनी ही कम हों उसे ईश्वर के उतने ही समीप समझना चाहिए।' तब फिर ईश्वर की समीपता से बढ़ कर सुख कहाँ मिल सकता है? अपने मन को वश में रखिये और अपनी आवश्यकताओं को घटाइए, आप ईश्वर के निकट और ऐसी स्थिति में पहुँच जाइएगा जहाँ आपको परम सुख मिलेगा। एवमस्तु।

(मानवी जीवन)



महात्मा बुद्ध

(श्री मैथिलीशरण गुप्त)

कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र रूप में भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी माया-देवी उन्हें जन्म देकर ही मानो कृत्य-कृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी रानी नन्द-जननी महाप्रजावती ने उनका लालन-पालन किया।

उनका नाम सिद्धार्थ और गौतम भी था। सिद्ध-लाभ करके वे बुद्ध कहलाये। सुगत, तथागत और अमिताभ आदि और भी उनके नाम हैं।

बाल्यकाल से ही उनमें वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। शिक्षा प्राप्त करने पर उनकी और भी वृद्धि हुई। शुद्धोदन को चिन्ता हुई और उन्हें संसारी वनाने के लिये उन्होंने उनका ब्याह कर देना ही ठीक समझा। खोज और परीक्षा करने पर देवदह की राजकुमारी यशोधरा ही, जिसे गोपा भी कहते हैं उनकी बधू बनने योग्य सिद्ध हुई।

यशोधरा के पिता महाराज दण्डपाणि ने सम्बन्ध स्वीकार करने के पहले वर की विद्या-बुद्धि के साथ उसके बल-वीर्य की भी परीक्षा लेनी चाही। सिद्धार्थ ने शास्त्र-शिक्षा के साथ ही

साथ शस्त्र-शिक्षा भी ग्रहण की थी। परन्तु शास्त्र की ओर ही पुत्र का मनोयोग समझ कर पिता को कुछ चिन्ता हुई। तथापि कुमार सब परीक्षाओं में अनायास ही उत्तीर्ण हो गये। "टूटत ही धनु भयेहु विवाहू" के अनुसार यशोधरा के साथ उनका विवाह हो गया।

पिता ने उनके लिये ऐसा प्रसाद बनवाया था जिसमें सभी ऋतुओं के योग्य सुख के साधन एकत्र थे। किसी राग-रङ्ग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। परन्तु भगवान तो इसके लिये अवतीर्ण हुए नहीं थे। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर उनकी दृष्टि पड़े। परन्तु एक दिन एक रोगी को, दूसरे दिन एक वृद्ध को और तीसरे दिन एक मृतक को देख कर, संसार की इस गति पर गौतम को बड़ी ग्लानि एवं करुणा आई और उन्होंने इनका उपाय खोजने के लिये एक दिन, अपना घर छोड़ दिया। उनके उस प्रयाण को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

तब तक उनके एक पुत्र भी हो चुका था। उसका नाम था राहुल। अभी उसके जन्म का उत्सव भी पूरा न हुआ था कि कपिलवस्तु में उनके गृह-त्याग का शोक छा गया।

रात को अपने सेवक छन्दक के साथ कन्थक नामक अश्व पर चढ़ कर वे चल दिये।

जिस प्रकार रुग्ण, वृद्ध और मृतक को देख कर वे चिंतित हुए थे। उसी प्रकार एक दिन एक तेजस्वी संन्यासी को देख कर उन्हें सन्तोष भी हुआ था। अपने राज्य की सीमा पर पहुँच कर उन्होंने राजकीय वेष-भूषा छोड़ कर संन्यास धारण

कर लिया और रोते हुए छन्दक को कपिलवस्तु लौटा दिया। सब के लिये उनका यही सन्देश था कि मैं सिद्धि-लाभ करके लौटूँगा।

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्सङ्ग करते हुए गया जी पहुँचे। राजगृह के राजा विम्बसार ने उन्हें अपने राज्य का अधिकार तक देकर रोकना चाहा, परन्तु वे तो स्वयं अपना राज्य छोड़ कर आये थे। हाँ, सिद्धि-लाभ करके विम्बसार को दर्शन देना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

राजगृह से पाँच ब्रह्मचारी भी तप करने के लिए उनके साथ हो लिये थे, जो पञ्चभद्रवर्गीय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निरञ्जन नदी के तीर पर गौतम ने तपस्या आरम्भ कर दी। वरसों तक वे कठोर साधन करते रहे, परन्तु सिद्धि का समय अभी नहीं आया था।

उनका विगलितवसन-शरीर आतप, वर्षा, शीत और क्षुधा के कारण ऐसा अवश और जड़ हो गया कि चलना फिरना तो दूर, उनमें हिलने-डुलने की भी शक्ति न रह गई। विचार करने पर उन्हें यह मार्ग उपयुक्त जान पड़ा और उन्होंने मिताहार स्वीकार करके योग साधन करना उचित समझा। किन्तु उनके साथी पाँचों भिक्षुओं ने उन्हें तपोभ्रष्ट समझ कर उनका साथ छोड़ दिया।

गौतम ने उनकी निन्दा पर दृक्पात भी नहीं किया। वे निन्दास्तुति से ऊपर उठ चुके थे, परन्तु निर्बलता के कारण वे भिक्षा करने के लिये भी न जा सकते थे। इधर उनके शरीर पर वस्त्र भी न था। उसकी उन्हें आवश्यकता

भी न थी। परन्तु लोक में भिक्षा करने के लिए जाने पर लोक की मर्यादा का विचार े कैसे छोड़ सकते ?

किसी प्रकार खिसक कर पास के श्मशान से एक वस्त्र उन्होंने प्राप्त किया और उसे धारण कर लिया।

गाँव की कुछ लड़कियाँ उन्हें कुछ आहार दे जाती थीं। उसी से उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई। सुजाता नाम की एक स्त्री ने उन्हें बड़ी सुस्वाद खीर भेंट की थी। उसे खाकर, कहते हैं, भगवान् बहुत तृप्त हुए थे।

एक दिन निरञ्जना नदी को पार कर उन्होंने एकान्त में एक अश्वत्थ वृक्ष देखा। वह स्थान उन्हें समाधि के लिये बहुत उपयुक्त जान पड़ा। अन्त में वही वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और वहीं समाधि में निर्वाण का तत्त्व उनको दृष्टि-गोचर हुआ।

इसके पहले स्वयं मार (कामदेव) ने उन्हें उस मार्ग से विरत करना चाहा। परन्तु वे ऐसे ऋषि-मुनि न थे जो डिग जाते।

मार ने लुभाने की ही चेष्टा नहीं, उन्हें डराया धमकाया भी। कितनी ही विभीषिकाएँ उनके सामने आईं, परन्तु वे अटल रहे।

स्वयं जीवनमुक्त होकर भगवान् ने जीवमात्र के लिए मुक्ति का मार्ग खोल दिया।

कर्मकाण्ड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीव-हिंसा का घोर विरोध किया।

जो पाँच भिक्षु उनका साथ छोड़ कर चले गये थे उन्हीं को सब से पहले भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संसार भर में जिसकी धूम मच गई, काशी के समीप सारनाथ में ही आरम्भ में, उस धर्मचक्र का प्रवर्त्तन हुआ। वे भिक्षु उन दिनों वहीं थे।

रोहिणी नदी के तीर पर कपिलवस्तु में भी यह समाचार कैसे न पहुँचता ? शुद्धोदन ने बुद्धदेव को बुलाने के लिए दूत भेजे। परन्तु जो जो उन्हें लेने के लिए गये वे सब उनके संघ में दीक्षित हो गये। अन्त में शुद्धोदन ने अपने मन्त्री-पुत्र को, जो सिद्धार्थ का बाल्यसखा था, उन्हें लेने के लिए भेजा। वह भी भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया, परन्तु शुद्धोदन से प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान् को उनका स्मरण दिलाना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु पधारे। रात को वे नगर के बाहर उद्यान में रहे। सबेरे नियमानुसार भिक्षा के लिये निकले। इस समाचार से वहाँ हलचल मच गई। यशोधरा को बड़ा परिताप हुआ। शुद्धोधन ने खेदपूर्वक उनसे कहा—'क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ?' भगवान् ने कहा—'नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है।'

भगवान् राजप्रासाद में पधारे। सब ने उनका उचित स्वागत समादर किया। परन्तु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित न हुई। उससे कहा गया तो उसने यही कहा—'भगवान् की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।' अन्त में भगवान् ही उसके निकट गये और उस समय भी इस महीयसी महिला ने उन्हें राहुल का दान देकर अपने महत्त्याग का परिचय दिया। [यशोधरा]

मित्रता

[श्री रामचन्द्र शुक्ल]

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है, क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है, अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमीं को नहीं रहता। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे, उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हम से अधिक दृढ़ संकल्प के हैं,

क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता, पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसन्धान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिये कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषध है। हमें अपने मित्र से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम सङ्कल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से

हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे, सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है। अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिये।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे जो स्नेह-बन्धन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमङ्ग रहती है और न उतनी खिन्नता। बाल मैत्री में जो मगन करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं। वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनायें मन में रहती हैं। कैसा बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है? कैसी क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा-पढ़ी होती है। कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना-मनाना होता है। 'सहपाठी की मित्रता', इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है। किन्तु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शान्त और गम्भीर होती है, उसी

प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुन्दर प्रतिभा, मन भावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो चार बातें देख कर मित्रता की जाती है, पर जीवन-संग्राम में साथ देने वाले मित्रों में इससे कुछ अधिक बातें चाहियें। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायें, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथ-प्रदर्शक के समान होना चाहिये जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिये जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिये—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों

में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देख कर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हम में नहीं हैं, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्लित चित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़चित्त और सत्य-सङ्कल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिये जिनमें हम से अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिये जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। बर्क ने कहा है कि आचरण-दृष्टान्त ही मनुष्य-जाति की

पाठशाला है, जो कुछ वह उससे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।

संसार के अनेक महान् पुरुष मित्रों की बदौलत बड़े बड़े कार्य्य करने में समर्थ हुए हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टांतों को देख-देखकर उन्होंने हृदय को दृढ़ किया है। अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है। उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकाल कर सात्त्विकता के पवित्र शिखर पर पहुँचाया है। मित्र उन्हें सुन्दर मन्त्रणा और सहारा देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं, जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरंतर करते रहते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो विवेक को जागरित करना और कर्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पाँवों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में सहारे के लिये है। यह सैर-सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी-दिल्लगी के गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिए। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए—"मित्र! अपना हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा

महारा होगा । तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी । पर यह नहीं कि सारा ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा, जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा । सत्यशील, न्याय और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूँगा। जहाँ जहाँ तुम जाओगे, मैं भी जाऊँगा । तुम्हारी बढ़ती होगी तो मेरी भी बढ़ती होगी। जीवन के संग्राम में वीरता के साथ लड़ो क्योंकि तुम्हारी ढाल मैं लिए हूँ।"

जो बात ऊपर मित्रों के संबन्ध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो, उसे अपने मिलने-जुलनेवालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है । साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मन्द हो वा भले-बुरे का विवेक क्षीण हो । जीवन का उद्देश्य क्या है ? क्या वह भविष्य के लिये आयोजन का स्थान नहीं है ? क्या वह तुम्हारे हाथ सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा ? सोचो तो कि दो चार, दस जितने गुण तुम्हें दिए गए हैं, उन्हें तुम्हें देने वाले को पचास गुने सौगुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज वा वृद्धि के । यदि जीवन का प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजाकर और हँसी-ठठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्त्व के विषय में मैंने कहा है, सब

व्यर्थ ही है। पर जीवन में गम्भीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिदअली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँध कर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्तव्यों के पालन के लिये दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टान्त हैं कि जिनके विचार भी महान् थे कर्म भी महान् थे। जैसा कि महात्मा डिमास्थिनीज ने एथेंसवासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि "यदि हमें अपने महान् पूर्व-पुरुषों की भाँति कर्म करने का अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिएँ और उनकी आत्मा के महत्त्व का अनुकरण करना चाहिए।" अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगत होगी, वैसा हमें समझेगी ही, पर हमें अपने कामों में भी संगत ही के अनुसार सहायता व बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यन्त दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और

उसी के अनुसार तुम उन्नत वा अवनत होगे, उत्साहित और हतोत्साह होगे। एक विद्वान् से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है ?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।" यदि हम जान पहचान करने में बुद्धिमानों से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनकी बातचीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिये कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को कह सकता है जो उसके साथ थियेटर देखने जायेंगे, सैर-सपाटे में जायेंगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे

जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा ।. पर, यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी । सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिन की संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, महफ़िलों में 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है ? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरणवाले महात्मा हुए हैं । उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म्म कर गए हैं और न बड़े बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिये फूल-पत्तियों में कोई सौन्दर्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर सङ्गीत नहीं, अनन्त सागर-तरङ्गों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों में ही लिप्त हैं, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन २ अन्धकार में पतित होते देख

कौन ऐसा होगा जो तरस न खायेगा ? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिये। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी २ राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर मस्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँस-मुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दर-वाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अव-नति के गढ़े में गिराती जायेगी और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायेगी।

इँगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबा-रियों में जगह नहीं मिली। इससे ज़िन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के

साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएँ, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उनकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझ से कहा कि उस ने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चल कर आप सुधर जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायेगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह

सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्मसंस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँव से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक, संगी-साथी न रहने से, बहुत घबराता है और कभी कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता हैं जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिये अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्य समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिये आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते

थे । भिन्न भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में । समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें, अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं । हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं । इनके अतिरिक्त और भी बड़े-बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है । समाज एक रेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञापालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और और बातें हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये कुछ स्वार्थत्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सुंदर चाल-ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं । स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिये जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती हैं । बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबर वालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुन्दर वस्तु को देखकर हम सब लोग प्रसन्न होते हैं । सुन्दर चाल-ढाल को देख हम सब लोग आनन्दित होते हैं । मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग

सन्तुष्ट होते हैं । ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं, शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुकूल होती हैं । किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी-पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें हँसना न चाहिये । सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड-गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

[१]



स्वर्गीय प्रेमचन्द

(श्री बनारसीदास चतुर्वेदी)

"मेरी आकांक्षायें कुछ नहीं हैं। इस समय तो सब से बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बङ्गले की मुझे हविस नहीं। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे, और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी-खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिये कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।"

[प्रेमचन्द जी के ३-६-३० के पत्र से]

"जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उस के महान् पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है।

मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है! इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"

प्रेमचन्द जी की याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रों का, जो ५॥ वर्ष के अन्तर पर लिखे गये थे, स्मरण हो आया। ये दोनों पत्र प्रेमचन्द जी के जीवन के उद्देश्यों और उनकी आकांक्षाओं को प्रकट करते हैं। यदि प्रेमचन्द जी ने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती, तो वे डिप्टी इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट होकर रिटायर होते, पर उन्होंने त्याग और तप का जीवन अङ्गीकार किया था और अपनी आकांक्षाओं को 'रोटी-दाल, तोला भर घी और मामूली कपड़े' पर ही परिमित कर लिया था। गरीबी के इस व्रत को ग्रहण करने के कारण ही वे हमारे साहित्य के लिये ऐसे अमर ग्रन्थ प्रदान कर गये, जिनकी वजह से हम आज अन्य भाषा-भाषियों के सन्मुख अपना मस्तिष्क ऊँचा कर सकते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक पर प्रेमचन्द जी की कृपा थी, और वह अपने जीवन के पवित्रतम संस्मरणों में प्रेमचन्द जी की गणना करता है। सन १६२५ की बात है। प्रेमचन्द जी के पहले-पहल दर्शन करने का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था। उन दिनों वे शायद 'रंगभूमि' नामक उपन्यास लिख रहे थे। उनके घर पर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कों पर कुछ दूर प्रातःकाल के समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपने बाल्यावस्था के अनुभव, जब कि वे किसी मौलवी साहब से पढ़ते थे, सुनाये थे। प्रेमचन्द जी के एक गुण ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था, वह था उनमें साम्प्रदायिकता का सर्वथा अभाव। वे हिन्दू-मुसलिम एकता के बड़े हामी थे, और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिये उन्होंने जीवन-भर परिश्रम भी किया था। उस थोड़े से समय में, जो उनके साथ व्यतीत हुआ, प्रायः इसी विषय पर बातचीत होती रही।

इसके बाद पिछले बारह वर्ष में प्रेमचन्द जी से मिलने के दो-तीन अवसर और मिले। पत्र-व्यवहार तो निरन्तर ही रहा। बातचीत की तरह उनका पत्र-व्यवहार तो निरन्तर होता रहा। बातचीत की तरह उनका पत्र-व्यवहार भी दिल खोलकर होता था। दिसम्बर १६३२ में उनके साथ काशी में दो दिन तक रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इन दो दिनों में एक दिन तो प्रातःकाल के ११ बजे से रात के १० बजे तक और दूसरे दिन सवेरे से शाम तक बातचीत करते रहे। इन दो दिन में वे सैकड़ों बार ही हँसे होंगे और सैकड़ों बार ही उन्होंने मुझे हँसाया होगा। उनकी जिन्दादिली का क्या कहना।

एक दिन बात करते-करते काफ़ी देर हो गई। घड़ी देखी, तो पता लगा कि पौने दो बजे हैं। रोटी का वक्त निकल चुका था। प्रेमचन्द जी ने कहा—"खैरियत यह है कि घर में ऊपर घड़ी नहीं है, नहीं तो अच्छी खासी डाँट सुननी पड़ती !" इस पर टिप्पणी करते हुए मैंने 'विशाल भारत' के लेख 'श्री प्रेमचन्द जी के साथ दो दिन' में लिखा था—"घर में एक घड़ी रखना और सो भी अपने पास, यह बात सिद्ध करती है कि पुरुष यदि चाहे तो, स्त्री से कहीं अधिक चालाक बन सकता है, और प्रेमचन्द जी में इस प्रकार का चातुर्य बीज-रूप में तो विद्यमान है ही।"

फिर कलकत्ते लौटने पर एक चिट्ठी में मैंने प्रेमचन्द जी को मज़ाक में लिखा कि 'आप श्रीमती शिवरानी देवी जी को एक रिस्टवाच क्यों नहीं खरीद देते ? इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द जी ने लिखा—

'रही उनकी रिस्टवाच की बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओं के लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा, तो वे खुद अपने लिए रिस्टवाच खरीद लेंगी, या शायद कोई उन्हें एक रिस्टवाच भेंट ही कर दे।'

× × × × ×

प्रेमचन्द जी को कलकत्ते बुलाने और शान्ति निकेतन ले जाने के लिए कई बार मैंने प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। जब कविवर नागूची जापान से कलकत्ते पधारे थे, तो मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भी आवें। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा था—

'आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कविवर नागुची के भाषण सुन पाता, पर लाचारी है। घरवालों को यहाँ कैसे अकेला छोड़ दूँ, यही प्रश्न है। लड़के इलाहाबाद में हैं, और यदि मैं बाहर चला जाऊँ तो मेरी स्त्री को सूना-सूना-सा लगेगा और अगर मैं उन्हें साथ लाऊँ, तो खर्च के लिए मेरे पास काफी पैसे चाहियें। इस लिए आर्थिक संकट का सामना करने की बजाय यही उत्तमतर है कि मैं घर पर ही बँधा रहूँ।'

शान्ति-निकेतन भी वे इसी कारण नहीं जा सके थे।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ से प्रेमचन्द जी का ज़िक्र अनेक बार आया था और उन्होंने कई बार कहा था कि प्रेमचन्द जी की चुनी हुई कहानियां का अनुवाद बँगला में होना चाहिए। बँगला के हास्यरस के सुप्रसिद्ध लेखक श्री परशुराम (श्री राजशेखर बोस) ने भी प्रेमचन्द जी की कई कहानियाँ पढ़ी थीं और 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी उन्हें खास तौर से पसन्द आई थी।

प्रेमचन्द जी जितने हिन्दी वालों के थे, उतने ही उर्दू वालों के भी थे। इस विषय में उनकी स्थिति अद्वितीय थी। गत वर्ष जब पानीपत में हाली-शताब्दी में सम्मिलित होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था, तो वहाँ उर्दू के कई प्रतिष्ठित लेखकों तथा कवियों से प्रेमचन्द जी का जिक्र आया था। उर्दू के एक विद्वान् लेखक ने कहा भी था "प्रेमचन्द; जी तो उर्दू के Classic हो गये हैं। वे तो हमारे ही हैं।"

सी० ऐफ० ऐएड्रूज से प्रेमचन्द की चर्चा कई बार हुई थी। उन्होंने प्रेमचन्द जी की एक कहानी 'तारा' के अँगरेज़ी अनुवाद Actress का संशोधन कर दिया था, और यह कहानी 'माडर्न रिव्यू' में भी छपी थी। मि० ऐएड्रूज़ प्रेमचन्द जी से मिलने को उत्सुक थे, और उनके आदेशानुसार शांति-निकेतन से लिखा भी गया था कि वे कलकत्ते पधारें, जहाँ कि मि० ऐएड्रूज़ स्वयं आ रहे थे, पर प्रेमचन्द जी नहीं आ सके। मि० ऐएड्रूज़ प्रेमचन्द जी की कहानियों के अँगरेज़ी अनुवाद के संशोधन करने के लिये और उनके प्रकाशित कराने के लिये तैयार थे। बात दर असल यह थी कि प्रेमचन्द जी अपनी रचनाओं के अनुवाद के विषय में बिलकुल उपेक्षा की नीति से काम लेते थे। मैं उनकी इस नीति का घोर विरोधी था। मैंने उनकी सेवा में निवेदन भी किया था कि आपकी रचनाओं का अँगरेज़ी अनुवाद आपको कीर्ति देने के लिये नहीं, बल्कि सभ्य जगत् के सम्मुख हिन्दी वालों का गौरव बढ़ाने के लिये होना चाहिए। पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था—

"आपके पत्र के लिये और आप मेरी रचनाओं से जो दिलचस्पी लेते हैं, उसके लिये मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, लेकिन जब तक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाये तब तक पादरी ऐएड्रूज़ साहब को व्यर्थ के लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिये वक्त ही नहीं आया और जब कभी वक्त आवेगा, तो मददगार भी कहीं-न-कहीं से निकल ही आवेंगे।"

यह असम्भव है कि प्रेमचन्द जी की चुनी हुई रचनाओं का अनुवाद अँगरेज़ी में न हो, क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज का जैसा जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र शायद ही मिले। कभी-न-कभी अँगरेज़ी जानने वाली जनता प्रेमचन्द जी की रचनाओं का स्वाद अपनी भाषा में लेने का प्रयत्न करेगी; पर यह सौभाग्यपूर्ण अवसर प्रेम-चन्द जी के जीवन में ही आ जाता तो कितनी अच्छी बात होती।

यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी रचनाओं के अँगरेज़ी अनुवाद के विषय में उदासीन से थे; पर अँगरेज़ी जनता के सम्मुख हिन्दी वालों की रचनाएँ तथा व्यक्तित्व के प्रकाशन को आवश्यक समझते थे। एक बार राय कृष्णदास जी के मकान पर (शायद यह द्विवेदी-अभिनन्दन-उत्सव का अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि 'लीडर' इत्यादि पत्रों में इस विषय पर लिखा करो।

\+ + + +

प्रेमचन्द जी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरों पर अपनी लेखनी पर संयम रखना उन्हें पसन्द नहीं था। इस विषय में वे स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा की नीति का अवलम्बन करते थे। स्वर्गीय शर्मा जी की पुस्तक 'पद्मराग' की आलोचना करते हुए मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था—"हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अन्त में अपने उद्देश्य में विफल होते हैं। उनके प्रयोग से इस बात की आशङ्का रहती है कि कहीं असाधारण कठो-

रता के कारण पाठक की सहानुभूति उस व्यक्ति के प्रति न हो जाये, जिसके प्रति उन शब्दों का प्रयोग किया गया है।"

इसका उत्तर देते हुए शर्मा जी ने लिखा था—"मुझे डर है कि कृत्रिम—बनावटी—शान्ति के खब्त में आप लोग—गांधी-पन्थी—वीर, रौद्र और भयानक रसों का सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एक दम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी, नृशंस और क्रूर आदमी की करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है, फिर उसे प्रकट करना क्यों अधर्म है? यह तो एक तरह की मक्कारी है कि किसी दुष्ट पर क्रोध तो आवे इतना कि वह बेताब करदे, पर उसे शब्दों में प्रकट न किया जाय! ऐसा न आजतक हुआ है, न आगे कभी होगा—साहित्य में सब रस सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़ियों के आगे हाथ-पाँव बाँध कर पड़ रहने का मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी काल में व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य-संस्कृति के विरुद्ध है। अस्तु, आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवञ्चक लोगों की जितनी भी कड़ी भर्त्सना की जाय, उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुन कर भू-भ्रमणवादी गैलिलियो ने जज से कहा था—'आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है, जरा भी तो नहीं रुकी।' आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज करता हूँ कि जनाब! धूर्त और नृशंस व्यक्ति की पोल खोलना, शब्दों के कोड़े लगाना, आज से हज़ार बरस बाद भी विहित समझा जायगा, इसमें ज़रा भी फर्क नहीं आयगा। आप लोगों

के इस क्लीव-क्रन्दन को—शांति-पाठ को—कोई न सुनेगा।"

जब श्रीयुत प्रेमचन्द जी को मैंने उनके एक लेख की कठोरता के विषय में लिखा तो उन्होंने उत्तर में वैसे ही भाव प्रकट किये, जो शर्मा जी के पत्र में हैं, पर स्वर्गीय शर्मा जी तथा प्रेमचन्द जी के प्रति काफी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्द जी ने फिर कठोर शब्दों का प्रयोग किया, तो मैंने फिर उनकी सेवा में निवेदन किया। अब की बार वे मेरी बात से कुछ-कुछ सहमत हो गये। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था—

आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिये मैं आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई विद्वेष नहीं है, बल्कि मैं उसके लिये दुःखित हूँ, पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी-पाठक इतने उथले हैं और सद्विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानों में कोई डाल दे, वे उसी पर विश्वास करने के लिये तैयार हो जाते हैं। हिन्दी पाठकों को तो यह निरन्तर बतलाने की ज़रूरत है कि सत्य क्या है, लेकिन भविष्य में अधिक संयम से काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का मुख पत्र बना दिया गया, तो प्रेमचन्द जी ने छपे हुए सूचना पत्र को भेजते समय उस पर लाल स्याही से लिख भेजा—

"मुन्शी जी (श्री कन्हैयालाल मुन्शी) ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा सवाल है—

"फ़कीर का सवाल है सभी के ऊपर,
जुलुम ना जियासती किसी के ऊपर।"

'हंस' के विषय में उन्होंने बहुत पत्र हिन्दी और उर्दू-लेखकों को लिखे थे। उर्दू-लेखकों ने तो सहृदयता पूर्वक उनके पत्रों का स्वागत किया और उत्तर भी दिये, पर हिन्दी के महारथियों ने जो कुछ किया, वह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिये—

'उर्दू-लेखकों ने तो मेरे निमन्त्रण का तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक जवाब दिया है, लेकिन जो बहुत सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दी के महारथियों की सेवा में भेजी थीं, उनमें बहुत कम के जवाब आये हैं। अकेले बाबू मैथिलीशरण जी ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने उत्तर दिया है, दूसरों ने तो चिट्ठी की स्वीकृति भी नहीं लिखी। हमारे हिन्दी-लेखकों की यह मनोवृत्ति है।'

'जागरण' के मज़ाक के कालमों में दो-एक बातें मेरे खिलाफ़ निकल गई थीं। मैंने उनकी शिकायत की। उसके उत्तर में प्रेमचन्द जी ने एक बड़ा प्रेमपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्र के प्रशंसामय अंशों को छोड़ कर कुछ बातें यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

'जब कभी मौक़ा पड़ा है, मैं हमेशा आपका पक्ष लेकर लड़ा हूँ, और मैंने आपको उसी दृष्टि से लोगों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, जिस दृष्टि से मैं आपको देखता हूँ। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्य-सेवियों में कुछ लोग ऐसे हैं, जो आपको बदनाम करते हैं और आप की ईमानदारी को भी मानने को तैयार नहीं होते। इतना

ही नहीं, कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसके छिद्रान्वेषी न हों? मैं स्वयं निन्दकों से घिरा हुआ हूँ, जो मुझ पर हमला करने का कोई मौका नहीं चूकते। दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारों में न तो विचारों की व्यापकता--उदारता--है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है, जिसे दूसरों की वर्षों के परिश्रम से अर्जित कीर्ति को मटियामेट करने में ही मज़ा आता है। हमें अपनी आत्मा को पवित्र रखना चाहिये और यही सब से बड़ी बात है। ज्ञान पड़ता है कि आप मज़ाक के छींटों को प्रायः गम्भीर मान बैठते हैं..... लेकिन जब कभी कोई किसी के उद्देश्य को ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसी के उद्देश्य पर शक करने को मैं किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता। निर्दोष छींटों की आपको परवा न करनी चाहिये। यदि आप इतने असहनशील हो जायेंगे, तब तो आप अपने निन्दकों को और भी उत्साहित करेंगे कि वे आप की पीठ में काँटे चुभोयें। खिले हुए चेहरे से आप उन लोगों का सामना कीजिये। एक ज़माना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण हमले से मुझे कई-कई रात नींद न आती थी, लेकिन वह ज़माना गुज़र चुका है, और अब मैं अपने आप को ज़्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।"

मैं एक लेख लिखना चाहता था—'भविष्य किनका है?' और उस लेख में हिन्दी के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के प्रतिभाशाली कार्य-कर्ताओं का संक्षिप्त परिचय देना चाहता था।

इस विषय पर मैंने प्रेमचन्द जी की सम्मति पूछी थी, सो उन्होंने विस्तार पूर्वक लिख भेजी थी। उसे हम 'विशाल भारत' के किसी अगले अङ्क में उद्धृत करेंगे।

+ + + +

सन् १९३० में मैंने एक पत्र में उनसे बहुत से प्रश्न किये थे। उनमें कुछ प्रश्न ये हैं—(१) आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था? आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पें कौन कौन हैं? (२) आप पर किस लेखक की शैली का प्रभाव विशेष पड़ा? (३) आपको अपनी रचनाओं से अब तक कितनी आय हुई है? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रेमचन्द जी ने लिख भेजा था—

"(१) मैंने १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। सब से पहले १९०८ में मेरा 'सोजेवतन', जो पाँच कहानियों का संग्रह है, जमाना प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलक्टर ने मुझ से लेकर जला डाला था। उनके खयाल में वह विद्रोहात्मक था, हालांकि तब से उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

(२) इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। २०० से ऊपर गल्पों में कहाँ तक चुनूँ, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ—(१) बड़े घर की बेटी, (२) रानी सारन्धा (३) नमक का दारोगा, (४) सौत, (५) आभूषण, (६) प्रायश्चित (७) कामना, (८) मन्दिर और मस्जिद, (९) घासवाली, (१०) महातीर्थ, (११) सत्याग्रह, (१२) लांछन, (१३) सती, (१४) लैला और (१५) मन्त्र।

(३) मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ २ डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

(४) आय की कुछ न पूछिये। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। 'प्रेम-पचीसी', 'सेवा-सदन', 'सप्त-सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम', आदि के लिये एक मुश्त तीन हज़ार रुपये हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी ने दिये। 'नव-निधि' के लिये शायद अब तक २००) मिले हैं। 'रङ्गभूमि' के लिये १८००) दुलारेलाल जी ने दिये और संग्रहों के लिये दो सौ मिल गये। 'कायाकल्प', 'आज़ाद कथा', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा' 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापी, पर अभी तक मुश्किल से ६००) रुपये वसूल हुये हैं, और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं। फुटकल आमदनी लेखों से शायद २५) रु० माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नहीं होती। मैं अब इस ओर 'माधुरी' के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' में लिखता हूँ। बस उर्दू-अनुवादों से भी अब तक शायद दो हज़ार से अधिक न मिला होगा। ८००) में 'रङ्गभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों का अनुवाद दे दिया था। कोई छापने वाला ही न मिलता था।"

'हंस' और 'जागरण' में प्रेमचन्द जी को निरन्तर घाटा ही होता रहा, और कभी-कभी तो यह घाटा दो सौ रुपये महीने से भी अधिक का हो जाता था। इसके कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहते थे—

'खेद की बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस' में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ता, लेकिन 'जागरण' का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझट से निकला कैसे जाय, इसी चिन्ता में दिमाग चक्कर खा रहा है। मैं करीबन २००) माहवार का घाटा दे रहा हूँ। यह कब तक चल सकता है? एक बार इसे जारी करने की मूर्खता कर चुकने के बाद अब इसका खातमा करने में मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इस पर कैसे हँसेंगे और खिल्ली उड़ायँगे?......यदि मुझ में इन दोनों पत्रों को बन्द कर देने की हिम्मत होती, तो मैं इन तमाम परेशानियों से बच जाता, लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।'

मेरी यह आकांक्षा कि कभी प्रेमचन्द जी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को बातचीत करते हुए सुनूँ, मन की मन में ही रह गई। प्रेमचन्दजी को शान्ति-निकेतन बुलाने के लिये कई बार प्रयत्न किया, पर इससे मुझे यह आशंका हो गई थी कि उन्होंने जान-बूझकर मेरे निमन्त्रण की उपेक्षा की है। जब काशी में जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शान्ति-निकेतन क्यों नहीं गये, तब उन्होंने बतलाया कि वे अपनी धर्मपत्नी तथा बच्चों को छोड़कर अकेले कविवर के दर्शनार्थ नहीं जाना चाहते थे और इतना पैसा उनके पास था नहीं कि सब की यात्रा का प्रबन्ध कर सकते! हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार की इस आर्थिक परिस्थिति को सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ था। उस समय मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था—

"प्रेमचन्दजी को अपनी पुस्तकों से जो आमदनी होती है उसका एक अच्छा भाग 'हंस' और 'जागरण' के घाटे में चला जाता है। कितने ही पाठकों का यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्दजी अपने ग्रन्थों के कारण धनवान हो गये होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दी वालों के लिये सचमुच यह कलंक की बात है कि उनके सर्वश्रेष्ठ कलाकार को आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचन्दजी का भी है, जो अपनी प्रबन्ध-शक्ति के लिए प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्व में वह लौह दृढ़ता भी नहीं, जो उन्हें साधारण कोटि के आदमियों के शिकार बनने से बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी-जनता अपने अपराध से मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बात की आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखक को कहीं यह न लिखना पड़े—'दैव ने हिन्दी-वालों को एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।"

ये पंक्तियाँ जनवरी सन् १९३२ में लिखी गई थीं। दुर्भाग्यवश वे सत्य प्रमाणित हो रही हैं।

Bharat Bhushan Dh
B. Sc (Hons)
Final year,
Sept 1971.
Session 1970–72.

विश्वास की शक्ति

(श्री सन्तराम बी० ए०)

विश्वास में बड़ी शक्ति है । विश्वास बहुधा ऐसे काम कर देता है जो, धारण दृष्टि से देखने पर, असम्भव से जान पड़ते हैं । कहावत भी है कि विश्वास से पर्वत हिल जाते हैं । पाश्चात्य भौतिक विज्ञान चाहे विश्वास की शक्ति को स्वीकार न करे, परन्तु भारतवर्ष में विश्वास की शक्ति को लोग चिरकाल से मानते और इससे काम लेते आ रहे हैं । विश्व ब्रह्माण्ड का सञ्चालन और नियन्त्रण करने वाली परमात्मा नाम की किसी सत्ता को भौतिक विज्ञान स्वीकार नहीं करता। वह अपनी " टेस्टट्यूब " में नवजीवन तक उत्पन्न करने का यत्न कर रहा है । परन्तु उसी विश्व-ब्रह्माण्ड-धारिणी अदृश्य शक्ति पर अक्षुण्ण विश्वास के कारण एकाधिक मनुष्य हँसते-हँसते धधकती हुई ज्वाला में कूद पड़े हैं, अंग अंग और बोटी-बोटी नुच जाने पर भी शान्त बने रहे हैं । अटल विश्वास ने ही उनमें असह्य यन्त्रणा को ऐसी शान्ति के साथ सहने का बल प्रदान किया है कि नरक की ज्वाला उनको वसन्त-वायु के समान शीतल जान पड़ी है। इसी विश्वास के बल से वे बड़ी से बड़ी विपत्ति के सम्मुख होने से नहीं डरे । रोगों की निवृत्ति पर विश्वास का जादू चलते तो अनेक बार देखा गया है । बारी का

ज्वर आ रहा है। रोगी बहुत आक्रांत हो रहा है। किसी ओझे से वह ज्वर को "बँधाता" है। रोगी की कलाई पर ओझे के धागा बाँधने या उसकी दी हुई भस्म की चुटकी पानी में घोलकर पी लेने से ही ज्वर का आना एक दम बन्द हो जाता है। रोगी कुनीन खा खाकर हार गया था, अब बिलकुल भला चङ्गा है। भिड़, बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तुओं के दंश के दाह को जादू-टोने का विश्वास ऐसे सम्यक् रूप से दमन करता है कि देखकर आश्चर्य होता है। आकस्मिक आवेग के धक्के से या साधु की चुटकी पर अक्षुण्ण विश्वास से एकाधिक रोगियों का पक्षाघात दूर हो गया है। विश्वास के बल से अंधे देखने लगते हैं, लँगड़े बिना अवलम्ब के चलने लगते हैं, और लूले पट्टियाँ खोल देते हैं। ग्रोटो आफ लार्डस् (Grotto of Lourdes) के सामने उन लँगड़े-लूले लोगों की बैसाखनों और लाठियों का ढेर लगा हुआ है। जो उस पर विश्वास के कारण ही नीरोग हो चुके हैं। धार्मिक विश्वास ने ऐसे-ऐसे अलौकिक कार्य किये हैं कि जो भौतिक विज्ञान की समझ से परे हैं।

धार्मिक आवेग को अलग रखकर, विश्वास की शक्ति से रोग-शान्ति का काम लिया जाने लगा है। अमेरिका के चिकित्सक प्रायः प्रतिदिन इसका उपयोग करते हैं। हिस्टीरिया के कारण अन्धे हो जाने वाले लोगों की मानसिक चिकित्सा को तो वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र ने भी स्वीकार कर लिया है।

स्मरण रहना चाहिए कि हिस्टीरिया (क्षोभोन्माद) के कारण मनुष्य की देखने की शक्ति उतनी ही जाती रहती है, जितनी कि आँख या मस्तिष्क के अनेक आंगिक रोगों के

कारण। जितना प्रायः समझा जाता है, उससे कहीं अधिक यह रोग पाया जाता है। यह युद्ध या धार्मिक मन्दी जैसे मानसिक या शारीरिक दबाव के दिनों में बड़ी तेजी से बढ़ जाता है।

क्षोभोन्माद के कारण दृष्टिहीन हो जाने वाले व्यक्ति के जीवन में बहुधा कोई "असह्य स्थिति" उपस्थित हो जाया करती है। घर पर या व्यापार में कोई ऐसी अरुचिकर समस्या आ खड़ी होती है जिसका समाधान करने या जिससे बचने में वह अपने को असमर्थ पाता है। उसमें से निकलने के लिए उनका मन अज्ञानतः यह मार्ग ग्रहण करता है।

यह निदान करना कि अन्धता का कारण हिस्टीरिया है उसकी चिकित्सा करने से भी अधिक कठिन है। विवेकी चिकित्सक को सदा मन में ध्यान रखना चाहिए कि कहीं छूत रसौली या चोट के कारण तो अन्धापन नहीं हुआ। जब उसे पूर्णतः निश्चय हो जाय कि रोगी को कोई आङ्गिक रोग (organic disease) नहीं, तब वह हिस्टीरिया का निदान करके उसकी चिकित्सा कर सकता है।

रोगी चंगा तभी हो सकता है जब पहले उसके मन में इस पर अक्षुण्ण विश्वास हो। रोगी को विश्वास करा देना चाहिए कि तुम इस चिकित्सा से जरूर अच्छे हो जाओगे। एक बार रोगी का दृढ़ विश्वास हो गया कि फिर आप जिस रूप में चाहें चिकित्सा कर सकते हैं। सामान्यतः रोगी को एक मानसिक धक्का पहुँचाया जाता है।

श्रीमती रुक्मिणी एक बड़े क्लिनिक के नेत्ररोग-चिकित्सालय में प्रवेश करती है। उसका सत्रस्त पति उसे बड़ा सम्भाल कर पकड़े हुए दहलीज़ के ऊपर से ले जाता है और वह लड़खड़ाती चाल से चलती है। पूछने पर पता लगता है कि सवेरे पति पत्नी में झगड़ा हुआ था, पति महाशय ने क्रोध में आकर गरम चाय का प्याला जमीन पर दे पटका और वह प्याला पत्नी के सिर में लग गया। उसके लगते ही तत्काल श्रीमती रुक्मिणी का देखना बन्द हो गया। अधिक पूछ-ताछ करने पर प्रकट हुआ कि पति महाशय को अक्सर प्रचण्ड कोप के दौरे हुआ करते हैं और पत्नी को हाल में मूर्छा के दौरे हुए थे जिससे उसके हाथ और पाँव सुन्न हो गये थे।

पूरी-पूरी परीक्षा करने पर भी अन्धता के लिये कोई आंगिक कारण नहीं मिलता। अतएव अन्त को पति और पत्नी दोनों को एक छोटे से कमरे में ले जाया जाता है, जहाँ एक नवयुवक डाक्टर उनसे बातचीत करता है। वह अकपट, गम्भीर और सरल है। श्रीमती रुक्मिणी डाक्टर को देख नहीं सकती, परन्तु उसकी वाणी में वह एक ऐसा सुर अनुभव करती है जो उसे शान्त करता है। वह उसे कह रहा है कि आप फिर देखने लगेंगी, गरम चाय के छींटों से आपकी आँखों के सामने एक महीन झिल्ली सी पैदा हो गई है जिससे आपकी दृष्टि बन्द हो गई है। यह झिल्ली आसानी से दूर हो सकती है। (इस समय डाक्टर की वाणी में एक शान्त निश्चयता रहती है) इसके लिये एक जलता हुआ सूक्ष्म यन्त्र आँखों को लगाना पड़ेगा। दुर्भाग्यवश इस आपरेशन से

तकलीफ तो होती है, परन्तु पीड़ा केवल १५ मिनट रहती है, इसके पश्चात् आपकी आँखें बिल्कुल ठीक हो जायेंगी। वह प्रतिवाद करती हुई कहती है कि यदि मेरी आँखें अच्छी हो जायें तो थोड़ी पीड़ा की मैं कुछ परवा नहीं करती और उस का पति पश्चाताप करता हुआ उल्लासपूर्वक कहता है कि मैं आज से शपथ लेता हूँ कि मैं फिर कभी इससे खफ़ा नहीं हूँगा।

थोड़ी सी प्रारम्भिक तैयारी के बाद, डाक्टर हौले से आँखों की पलकें उलटाता है और कूची के साथ उन पर वहीं सोल्यूशन लगा देता है जो सूजी हुई पलकों की चिकित्सा में लगाया जाता है। इस दवाई से जलन होती है और आँखें अनिच्छा पूर्वक कस कर बन्द हो जाती हैं। आँखों के ऊपर रुई या गाज की गद्दियाँ रख दी जाती हैं। रोगी उस समय पीड़ा से तिलमिला रहा होता है। उसे कहा जाता है कि गद्दियों को कुछ मिनट रखी रहने दो, इससे पीड़ा शान्त हो जायगी। आपरेशन हो चुका है। श्रीमती रुक्मिणी को कह दिया जाता है कि जब पीड़ा शान्त हो जाय तो आँखें खोल लेना। उसे हिदायत कर दी जाती है कि आँखें धीरे २ खोलना, क्योंकि एक दम प्रकाश आने से पहले पहल उसे घबराहट होगी। इस बात का नाम तक नहीं लिया जाता कि इस चिकित्सा के कभी विफल होने की भी सम्भावना है।

थोड़े ही मिनटों में पीड़ा शान्त होने लगती है और रोगी बड़ी सावधानी के साथ जरा सा आँखें मिचकाता है। कमरे की सफेद दीवारों, कुरसियों, मेजों और अपने पति को

देख कर वह हर्ष से चिल्ला उठती है। वह एक बार फिर स्वस्थ प्राणी बन जाती है।

क्या यह बहुत सुगम काम है? हाँ, इस रोगी की अवस्था में तो यह सुगम ही है। क्या आप इसे धोखा कहेंगे? आप चाहें तो कह सकते हैं, परन्तु याद रखिये कि एक मनुष्य प्राणी का सारा जीवन जोखिम में था। क्या इसे कठवैदी या नीम हकीमी कहा जाय? यदि केवल चिकित्सा पर ही विचार किया जाय तो निश्चय ही यह कठवैदी है। परन्तु जिस रोगी की अवस्था में इस बात का पूर्णरूप से निश्चय हो चुका है कि किसी आंगिक व्याधि के कारण उसकी दृष्टि नष्ट नहीं हुई, वहाँ यह चिकित्सा वैज्ञानिक चिकित्सा का वैसा ही अङ्ग है जैसा कि मोतिया के लिये आपरेशन।

यह बताने की फुरसत नहीं कि पलकों को सोल्यूशन लगाने का दृष्टि के दोबारा प्राप्त कराने के साथ सिवा इसके और कुछ भी सम्बन्ध नहीं कि इससे रोगी को एक हलका सा धक्का लगा था। विश्वास ने ही उस स्त्री को दुबारा देखने की शक्ति प्रदान की। उसे इस बात में विश्वास करा दिया गया था कि तुम अच्छी हो सकती हो। उसे डाक्टर में श्रद्धा थी, जिसने उसे कह दिया था कि तुम ज़रूर चंगी हो जाओगी।

श्रीयुत रोशन की अवस्था इतनी सरल न थी। वह कोई एक वर्ष से निपट अंधा था। उसकी दृष्टि की हानि क्रमशः हुई, मानो अन्धकार की सघन यवनिका सब ओर से धीरे-धीरे गिर पड़ी। अन्त को यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि वह केवल

सीधा ही देख सकता था, जैसे कोई बन्दूक को नाली में से देख रहा हो। इसके बाद, उसे उतना दीखना भी बन्द हो गया। उस समय से वह दिन और रात में भी भेद नहीं कर सकता था। वह अच्छा धनी मनुष्य है। एक बड़ी कम्पनी के बोर्ड आव डायरेक्टर्स का चेयरमैन है। पता लगा है कि जब तक वह अंधा नहीं हुआ था तब तक वह अपने काम में बहुत अधिक परिश्रम किया करता था, इस रोग के भीषण आक्रमण के समय उससे अपनी कम्पनी के डाइरेक्टरों की चेयरमैनी छिनने को थी।

अनेक डाक्टरों ने उसे देखा है, परन्तु कोई भी उसकी कुछ सहायता नहीं कर सका। उसके मित्र उसे टोना-जादू से इलाज करनेवाले ओझों के पास ले गये हैं। परन्तु वह नास्तिक है और इन बातों को बिलकुल नहीं मानता। दो मौकों पर उसे स्पष्ट कह दिया गया है कि तुम्हारी बीमारी का कारण स्त्रीभोन्माद (हिस्टीरिया) है और वह इसे सत्य भी मानता है।

जाँच करने पर पता लगा है कि जब प्रकाश-किरण उसकी आँखों में डाली जाती है तो उसकी पुतलियाँ तेज़ी से और स्वाभाविक रीति से सिकुड़ जाती हैं। परन्तु वह धूप और छाँह में भेद नहीं कर सकता। किसी-न-किसी प्रकार कोई प्रकाश-उत्तेजन उसके मस्तिष्क के उच्चतर केन्द्रों में अवश्य पहुँचता है, परन्तु वहाँ पहुँचकर भी वह सचेतपन में (Cious mind) अङ्कित नहीं होता।

श्रीयुत रोशन एक विवेकी और तर्क-प्रिय व्यक्ति है। उसकी चिकित्सा फिर उसी ढंग से क्यों न की जाय ? उसकी व्याधि का स्वरूप उसे साफ़-साफ़, बिना लाग-लपेट के समझा दिया जाता है। वह अन्धा इस कारण नहीं कि उसकी देखने की इन्द्रिय में कोई रोग है, वरन् इसलिए कि उसकी आँख हिस्टीरिया के कारण अपना काम ठीक तरह से नहीं करती। उसके मस्तिष्क में कहीं एक छोटा-सा चक्कर बन गया है, जिससे उसकी आँखों में उठनेवाले स्वाभाविक संवेग इधर-उधर की पगडंडियों में चले जाते हैं। इसको दुरुस्त करने की केवल एक ही रीति है। किसी साधन से कुछ समय के लिए सभी मानसिक और इन्द्रियानुभूति-सम्बन्धी संवेग बंद कर देने चाहिएँ। गहरे ईथर अनस्थासिया (Ether anesthesia) के द्वारा यह काम सर्वोत्तम रीति से हो सकता है। केवल निद्रा ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि निद्रा में मनुष्य स्वप्न देखता, इधर-उधर हिलता-डुलता और अनुभव कर सकता है। एकबार उसकी मानसिक क्रियाओं को पूर्णरूप से बंद कर देने पर, फिर उनको दुबारा मंदगति से और उचित मार्गों पर चलाना ही शेष रह जाता है।

इस बातचीत में डाक्टर का कोई विश्वास नहीं। अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि जटिल और अतीव अनिश्चित अवस्था का यह भद्दा समाधान है। जहाँ तक रोगी का सम्बन्ध है, उसे इस बात का इंगित तक भी न होना चाहिये। श्रीयुत रोशन को इस बात का अनुएग विश्वास रहना चाहिए कि डाक्टर को इस चिकित्सा-पद्धति

की सफलता का ज्ञान है। इसमें किसी प्रकार के दुराव या कपट की आवश्यकता नहीं। डाक्टर जानता है कि मैं उसे चंगा करने में सफल हो सकता हूँ।

अच्छे खासे उत्साह के साथ श्रीयुत रोशन ईथर का मास्क (नकाब) पहन लेता है और चुपचाप सो जाता है। दोनों आँखों पर भारी-भारी पट्टियाँ मजबूती से बाँध दी जाती हैं और रोगी को उसके कमरे में वापस भेज दिया जाता है। वहाँ उसे धीरे-धीरे जागने दिया जाता है।

डाक्टर अगले दिन उसे देखने आता है, उसका कमरा प्रफुल्ल और उज्ज्वल बना दिया गया है। उसमें एक दो नर्सें हैं। डाक्टर उनसे बातें कर रहा है और उधर उसका ड्रेसिंग ट्रे तैयार हो रहा है। उसकी चाल-ढाल से विश्वास और निश्चय टपकता है। वह श्रीयुत रोशन से कहता है कि अब पट्टियाँ खोल दी जायँगी, परन्तु जब तक मैं खोलने के लिए न कहूँ, तब तक आँखें बंद रखना। फिर जब पट्टियाँ खोली जाती हैं तो उसे देखने के लिए कोई अनुरोध नहीं किया जाता, उसके मानसिक आवेगों को उकसाया नहीं जाता, केवल शान्त विश्वास दिलाया जाता है। तब, उसके सामने घड़ी रखकर, डाक्टर पूछता है :—

"श्री रोशन, कितने बजे हैं?"

"साढ़े आठ, डाक्टर जी।"

"ठीक!"

बस, कोई आश्चर्य नहीं प्रकट किया जाता, कोई हर्ष की असामान्य अभिव्यक्ति नहीं होती। वस्तुतः आश्चर्य का

कोई कारण भी नहीं, यह तो केवल इस चिकित्सा में दृढ़ विश्वास का ही सारा परिणाम है। यहाँ भी विश्वास ने एक मनुष्य प्राणी को स्वाभाविक जीवन बिताने में नये सिरे से समर्थ कर दिया है।

नेत्रों को दुबारा देखने की शक्ति प्राप्त हो जाने के बाद इन लोगों की क्या दशा होती है? क्या वे बीमारी के पहले की तरह सब काम स्वाभाविक रीति से करने लगते हैं, या उनको दुबारा अन्धे हो जाने का डर सदा बना रहता है? अनेक लोगों की अवस्थाओं में तो फिर कोई तकलीफ नहीं हुई। कुछ एक दुबारा थोड़े बहुत अन्धे हो गये हैं, परन्तु उनके रोग का यह दूसरा दौरा आसानी से शान्त कर दिया गया है। बच्चों में, विशेषतः १० या १२ वर्ष की आयु की लड़कियों में, इस प्रकार की अन्धता बहुत देखी जाती है। इसको चङ्गा करना बहुत कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि अधिकांश अवस्थाओं में ये इस प्रकार के अन्धे व्यक्ति सुजाखे कर दिये जाने के लिये बहुत कम धन्यवाद देते हैं। इस प्रकार उनकी जीवनधारा को परिवर्तित कर देने को एक तुच्छ सी बात समझते हैं। यदि किसी लम्बे-चौड़े आपरेशन द्वारा दिखलावा करके यही काम लिया जाता तो निस्सन्देह वे उसे एक करामात मानते।

हमारे साहित्य का ध्येय

(पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला')

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यकों के समाज में वह महत्त्व नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहने वालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसी लिये हमारे देश के अधिकांश प्रान्तीय साहित्यक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिये कार्यकरी सच्ची राष्ट्र-नीति की अत्यन्त आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एक देशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये, शरीर के तमाम अङ्गों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर सम्पत्तिवाद के क़ायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही

साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बन्ध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातन्त्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर ज़ोर देकर संसार को बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिये कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी दुःखों, दुनिया की अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभाव-प्रियता को एक ही छलाँग से पार कर जाता है। समष्टि के मन को यन्त्र-तुल्य समझ कर अपने इच्छानुसार उसका सञ्चालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्य का मत-भेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चल कर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काव्य स्वतन्त्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

सम्पत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलने वाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिए यह स्वाभाविक है भी, सम्पत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही

जड़ मिलता है, और उनकी स्वतन्त्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतन्त्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत चित् और आनन्द। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय पथ। उसकी स्वतन्त्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अङ्गों में राजनीति भी उसका एक अङ्ग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता। कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उनकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अण्डा या पहले अण्डा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्य-मयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिये भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयङ्कर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गन्दगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवादव्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर हैं, जड़ प्राप्ति द्वारा, रुपये-पैसे या ज़मीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छा-नुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी

प्राप्ति के लिये हम प्रायः एक दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, वह साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिप्याप्ति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूँकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत-सम्बन्धी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जन-समूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में सन्देह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिये हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस रंग के खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसी लिये पूर्ण मौलिक बन भी

नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति-रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुज़रने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशों में वे एक दूसरे से अलग हैं; इस लिये कमज़ोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खण्ड-क्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।



सन् १९८० का भारतवर्ष

(श्री सद्गुरुशरण अवस्थी)

सन् १९८० की चर्चा है, भारतवर्ष की केन्द्रीय परिषद् का निर्वाचन है। समूचे देश में भारी हलचल है। साम्यवादियों, प्रजातन्त्रवादियों में घोर संघर्ष है। स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्धि कोई भी निष्क्रिय नहीं। सबका अपना दल है और सभी की त्योरियों पर बल है। बात की बात में वायुमण्डल उष्ण हो जाता है और क्षण-क्षण में सहस्रों व्यक्तियों की टुकड़ी जमती और पिघल जाती है। सभी वक्ता हैं और सभी गहरी अभिरुचि रखते हैं। चुनाव का वातावरण इतना मोटा हो गया है कि प्रत्येक सजीव प्राणी की साँस में चौबीसों घंटे वही खिंचता है। पवन भी वक्तृता झाड़ता है। मर-मर शब्द द्वारा पादप करतल-ध्वनि करते हैं। उजड़े खंडहर झोंकों को काटते हुए अपनी कहानी सुनाने के लिए तने हैं, परन्तु लोगों का ध्यान महलों की ओर है, विनष्ट राजनीतिक दल का चुनाव संकीर्तन सुनने के लिये किसे अवकाश है? सशक्त दलों की ही ओर सबका विशेष ध्यान है। घर में चुनाव-चर्चा, बाहर चुनाव-चर्चा, गली में निर्वाचन-ध्वनि, सड़कों पर निर्वाचन-घोष, कार्यालयों में वही राग, विद्यालयों में वही रङ्ग, पुस्तकों

में वही प्रकरण, समाचार-पत्रों में वही प्रकार—देश के कोने-कोने में केवल एक प्रतिध्वनि है और वह है चुनाव की।

इस बार साम्यवादियों की विजय होगी, ऐसा लोगों का अनुमान था। भारतवर्ष में स्वतन्त्रता स्थापित होने के बाद चार निर्वाचन हो चुके हैं और लगातार प्रजातन्त्रवादियों की ही विजय हुई है। गत शासन प्रजातन्त्रवादी और श्रमजीवियों का संयुक्त शासन था। श्रमजीवी दल बिलकुल निर्जीव समझा जाता है। लोगों का कहना है कि श्रमजीवियों के वास्तविक हितैषी तो साम्यवादी हैं। राजनीतिक श्रमजीवी दल तो पूँजी-पतियों का शिखण्डी शस्त्र है। इस खोखले दल की आड़ में प्रजातन्त्रवाद के गिरोह में भर्ती होकर पूँजीपति मुक्तहस्त हो रुपये बाँटते हैं और साम्यवादियों का भीषण विरोध करते हैं। नाम कुछ और है, सिद्धान्त कुछ और हैं और अर्थ कुछ और बढ़िया दो सौ रुपये के वस्त्र पहनकर देश की अच्छी से अच्छी मोटर पर बैठ कर श्रमजीवी दल की रक्षा करने के लिये उसके नेता स्थान-स्थान पर भाषण देते घूमते हैं।

समाचारपत्र वैसे ही देश में बहुत बढ़ गये थे, निर्वाचन ने उनकी संख्या ड्योढ़ी कर दी। ठंडक के कारण चींटे वैसे ही बहुत घूमते थे, चीनी बिखर जाने से उनके गिरोह के गिरोह निकल पड़े। मूलनारायण चपरासी भी तीन दैनिक और दो साप्ताहिक पत्र मँगवाता है। एक और दो पैसे प्रति से किसी का भी मूल्य अधिक नहीं, और छोटे से छोटा चपरासी ३०) रुपया मासिक से कम वेतन नहीं पाता। भोखा अर्दली के पास भी एक विश्राम-कुर्सी, एक मेज और दो बेंत की

कुर्सियाँ हैं । एक दूसरे कमरे में गद्दा बिछा हुआ है और खाकी चादर पर दो तकियाँ रखी हुई हैं । पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का ऐसा गङ्गा-जमुनी मेल प्रत्येक व्यक्ति के घर में है। भीखा के ५) मासिकवाले किराये के मकान में पीछे की ओर दो कमरे हैं, जिनमें उनकी सारी गृहस्थी रहती है । भीखा की पत्नी कन्यापाठशाला में कन्याओं की देख-भाल के लिए नौकर है।

भारतवर्ष में आज प्रत्येक युवक और युवती में अकड़ है । 'यह सारा देश मेरा है,' इस ठसक के कारण प्रत्येक पदाति के पैर पृथ्वी को रगड़ते चलते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी सम्मति रखता है । भारतवर्ष के भौगोलिक विस्तार से कहीं अधिक विस्तार हिन्दी का है । इस समय के लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता कि पचास वर्ष पूर्व भारतवर्ष में एक बड़ी संख्या निरक्षर लोगों की थी और न वे यही अनुमान कर पाते हैं कि कभी भी भारतवर्ष ऐसा अकर्मण्य रहा होगा कि एक द्रव्योपार्जन करता हो और दस उस की आय पर आश्रित हों । आज प्रत्येक युवक और युवती की अपनी स्वतन्त्र आय है । छोटे-बृढ़े, विरल और घने सभी के घरों में स्थान-स्थान पर बिजलियाँ लगी हैं । कोई भी पदार्थ मार्गों और गलियों में पड़ा हुआ दिखाई नहीं देता । ग्रामों का आकार और कस्बों का ढाँचा भी किसी क्रम की ओर खींचता हुआ दिखाई देता है । छोटे गलियारे और चौड़ा होना चाहते हैं और पजावे की ईंटों ने मार्ग, किसी न किसी प्रकार से, पक्का बना दिया है । वास्तविक चित्र दिये बिना

यहाँ भी कोई घर नहीं बन सकता। गोबर के ढेर और कूड़े के ढूह निवासस्थान से बहुत दूर एकत्रित किये जाते हैं। पशु-संघात भी निवासस्थान से काफी दूर है। माताओं की गन्दी बातों को लड़के और लड़कियाँ भौंहें चढ़ा कर टोंक देती हैं और अपनी-अपनी पुस्तकों का हवाला देकर अपने पहले स्वर में सम्भाषण देने लगती हैं। ग्राम के मुखिया को पुलिस के सिपाही अभिवादन करते हैं, थानेदार से तो उसका बराबरी का मामला है। खेतों में मेंड़ का अभाव हो सकता है, परन्तु सदा बहने वाले नालों का नहीं, वे किसानों की सम्पत्ति हैं। कोई अभागा ही ग्राम रह गया होगा जहाँ रेलवे का स्टेशन नहीं! किसानों की धोती अब घुटनों से उतर आई है और कुछ ढङ्ग के श्रमजीवी तो आधी पेंट पहनकर खेतों में श्रम करते हैं। ग्रामों में केन्द्रीय बैंक की शाखाएँ पुलिस-चौकी अथवा थाने के कार्यालय में ही खुली हैं और प्रत्येक किसान के लेन-देन का खाता उसमें अवश्य है। जमीदारों की संख्या बहुत कम हो गई है और उनका गौरव तो बिलकुल शिथिल हो गया है। साधारण जनता उनसे बेतरह खिंची रहती है।

नगरों में समवाय व्यापार-संघ बहुत हैं। किसी एक व्यक्ति की एक या एक से अधिक संस्थाएँ कदाचित ही मिलें। तुरई और पालक का साग भी कागज में भले प्रकार लपेटकर धागे में बँधकर मिलता है। शीशे की आलमारी में चने का साग रहता है। पिसा हुआ नमक शीशियों में बिकता है। नमक से अधिक शीशे का मूल्य देना पड़ता है। आधेय से आधार का अधिक महत्त्व है। मिठाइयाँ मिट्टी अथवा चीनी

के ढक्कनदार बर्तनों में बन्द करके बेची जाती हैं। प्रत्येक हलवाई की भट्ठी दूकान के पीछे है और एक बड़ी ऊँची चिमनी से ऊपर धुआँ निकला करता है। चाय-घरों की संख्या बहुत बढ़ गई है, रजक-व्यवसाय बड़ा चमत्कृत करनेवाला है। कार्यालय में तीन यन्त्र लगे हैं। इन्हीं में घूमता हुआ वस्त्र धुलकर सूखा और तह किया हुआ निकलता है। सामाजिक उन्नति के लिये लोग बहुत उतावले हैं। परदा बिलकुल हट गया है। लुक-छिप कर भी स्त्रियों की ओर ताकनेवालों का एक दम अभाव हो गया है। बालिकाएँ उसी निर्भीकता के साथ विद्यालय चली जाती हैं जितनी निर्भीकता के साथ बालक जाते हैं। अर्धनग्न व्यक्तियों को तुरन्त कारागार भेज दिया जाता है। प्राणदण्ड का विधान बिलकुल उठ गया है। किरानपुर, अजयपुर, और प्रयाग ऐसे नगरों के वैचित्र्य-निकेतों में 'इक्का' नामक एक विचित्र सवारी रक्खी है। कहते हैं कि पचास वर्ष पूर्व लोग इस सवारी पर चढ़ते थे। हस्तिनापुर के वैचित्र्य-निकेत में दो इनसे भी पुराने वाहन रक्खे हैं। एक को रथ कहते हैं। कहा जाता है कि भारतवर्ष में प्राचीन योद्धा सहस्रों वर्ष पूर्व इसी पर चढ़कर युद्ध किया करते थे। दूसरी विहंगम सवारी को ऊँटगाड़ा कहते हैं। उचित उपादानों के साथ किसी जीव के प्रयोगशाला में रक्खे हुए मृत शरीरों की भाँति ये प्राचीन चिह्न सुरक्षित रक्खे हैं।

प्रयत्न-सारल्य और प्रयास-लाघव की वृत्ति बहुत बढ़ रही है। व्यवहार-केन्द्रीकरण और व्यापार-संक्षिपन की धुन सब को सवार है। ऐसे नये ढंग की मेजें हैं जिनसे भोजन करने का

लिखने का, ताश और बिलीयर्ड खेलने का, आलमारी तथा पलंग का काम थोड़े इधर-उधर के फेर-फार करने के बाद लिया जा सकता है। कलम, दावात और पेंसिल तो सिमटकर एक ही स्वरूप में बहुत पहले वर्तमान थी ही, अब आचार्य नवेलकर ने दाल-भात, आटा-साग, अर्थात् सारे भोज्य पदार्थों को सूक्ष्म करके अपनी भोजन-वटी में सन्निहित कर दिया है। इस वटी का आकार बड़े मटर के आकार से बड़ा नहीं है और दिन में इसे केवल तीन-चार बार खाना पड़ता है। कहते हैं कि इससे बिलकुल क्षुधा नहीं लगती, केवल थोड़ा जल ग्रहण करना पड़ता है। अभी इसका मूल्य बहुत है, परन्तु प्रयोग में यह ठीक उतरी है। आचार्य महोदय मूल्य घटाने का ढंग सोच रहे हैं। यदि सस्तेपन की होड़ में भोजन-वटी टिक गई तो बड़े-बड़े भोजनागारों का शृङ्गार, दावतों के लम्बे चौड़े प्रबन्ध, पाकशास्त्रियों की कलाएँ और न जाने क्या-क्या वस्तुएँ व्यर्थ और निरर्थक हो जायँगी और ऊँट गाड़ियों की भाँति उनके स्थान केवल वैचित्र्य-निवास रह जायँगे।

सुनते हैं कि इसी भारत-भूमि पर ५० वर्ष पूर्व स्टेशनों और मेलों में बड़ा हल्ला मचता था। आज टिकट लेनेवाले एक पंक्ति में खड़े होकर, एक के बाद एक, खिड़की तक पहुँचते हैं। अभिनय-गृहों में केवल अभिनेताओं के शब्द सुनाई देते हैं। खोंचेवाले संकेतों से बुलाये जाते हैं। कहीं कोई किसी को धक्का देते नहीं दिखाई देता। कुरता-धोती वालों की प्रधानता है, परन्तु कुछ लोग अंगरेज़ी सूट में और कुछ लोग अचकन और चूड़ीदार पजामें भी पहने दिखाई देते हैं। शासन की

ओर से किसी प्रकार के वस्त्र का अनुबन्ध अथवा प्रतिबन्ध नहीं है। निर्वाचन के ज्वर में धनिकों के प्रति बहुत वेग का प्रलाप है। आक्रमण इतना अधिक विस्तृत होगया है कि यदि कोई व्यक्ति जनसमूह के निकट से निकल जाता है तो तालियाँ पिट जाती हैं। बहुमत प्राप्ति के प्रयास में धनिक भी मुक्त हस्त से धन व्यय कर रहे हैं। अपने-अपने दल के नेता अपनी-अपनी आयोजित सभाओं में घूम-घूमकर भाषण दे रहे हैं। मोटर से उतरना नहीं पड़ता। ठीक सम्भाषण-मञ्च के निकट मोटर लगा दी जाती है। इस महान् क्रान्तिकर निर्वाचन-विक्षोभ में भी शासन-कर्मचारी उदासीन हैं और विचारों में निमन्त्रित, सम्भाषणों में सतर्क तथा व्यवहारों में निष्पक्ष हैं। प्रलोभन के इन्द्रजाल में विचरने के लिए उनके पास अधिकार का भगवत्कवच है।

निर्वाचन-तिथि के ठीक एक दिन पूर्व काशी का रङ्ग कुछ फीका पड़ गया है। भारतीय सेना के विश्राम-वेतन-भोक्ता पूर्व महासेनाधिनायक 'शत्रुदल केसरी' तथा 'अर्जुन वीर' इत्यादि उपाधियों से अलंकृत महाराणा रणधीरसिंह आज मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र 'शत्रु पञ्चानन' अर्जुन वीर महाराणा मृत्युञ्जसिंह—वर्तमान महासेनाधिनायक—पलंग के पैरों के निकट सिर झुकाये खड़े हैं। म्रियमाण महापुरुष का प्रख्यात नाम "वीरू" है! जिसे इस महापुरुष के जीवन-इतिहास का अभिज्ञान नहीं वह इस अभिधान के तात्पर्य को नहीं समझ सकता। वीरू गत छः वर्षों से काशीवास कर रहे हैं। इनके निवासस्थान की कोठी दशाश्वमेध घाट से थोड़ी बाईं

ओर हट कर है। बीच के खण्ड में एक बड़े से कमरे में रोगी की शय्या बिछी है। बाईं ओर करवट लेने पर गङ्गा जी की तरल तरङ्गों में उलझ कर मन विराग से भर जाता है और वीरू भक्ति से साश्रु नेत्र मूँद लेते हैं और दाहिनी ओर करवट लेते ही एक बड़े शीशे में जड़ा हुआ कृष्ण का एक सुन्दर चित्र वीरू को अपनी ओर घसीटने लगता है और वीरू मोह-कातर हो जाते हैं। इस चित्र के ठीक नीचे एक पैर से खड़ी हुई एक गोलमेज के ऊपर एक रम्य रमणी बालिका का अनुपम चित्र सुवर्ण-परिधि में जड़ा हुआ रखा है। चित्र का शीशा किसी विदीर्ण हृदय का अनुकरण करता हुआ सैकड़ों भागों में विभक्त हो कर भी जुड़ा हुआ है। वीरू की दृष्टि समूचे शीशे वाले देवता से फिसल कर फूटे शीशे वाली देवी पर जा जमती है। और कभी देवी के अवलोकन से विह्वल हो कर देवता के चरण पकड़ लेती है। एक पाकर खोई हुई विधि है और दूसरा खो कर पाया हुआ कोप। एक हँसते हुए युवा-जीवन के लिये गुलाब की छड़ी थी। एक मरणोन्मुख मुरझाये हुये वृद्ध-जीवन के लिये आश्रय-दण्ड है। परन्तु मरणोन्मुख, मुरझाया हुआ, वीरू भी हँसते हुए युवा का अभिनय करता है। यह विराग, वह अनुराग, वह अनुराग, यह विराग इसी में मन टक्कर काट रहा है। मरते हुए वीरू में एक बार युवा का अभिनय कर लेने की हविस है। बुझता हुआ दीपक एक बार फिर भभक उठना चाहता है।

वीरू का कमरा बहुत बड़ा और भले प्रकार सजा हुआ है। सोने की भाँति चमकता हुआ उसका पीतल का

पलङ्ग, जिसकी मसहरी ऊपर खींच दी गई थी, यन्त्र से ऐसा संलग्न था कि जितना चाहे उतना ऊपर नीचे किया जा सकता था और यन्त्र द्वारा उसे घण्टों तक मन्द-मन्द चाल से कमरे की लम्बाइ में चलाया जा सकता था। इस भूले का प्रयोग रोगी को सुलाने के समय किया जाता है। कमरे की सजावट में पूर्वी और पश्चिमी वेश की मिश्रित प्रणाली का अपूर्व संयोग है, सारे देश में इसी खिचड़ी सभ्यता का बोलबाला है। रेशमी खद्दर के हरे-हरे परदे दरवाज़े पर पड़े हैं। चित्रों की विधि दो प्रकार की है। कमरे के भीतर प्रवेश करते ही एक बड़े चित्र के दर्शन होते हैं जो वोरू के पचास वर्ष पूर्व के साथी 'मयंक-मौलि' का है। इसके दोनों ओर दो छोटे-छोटे चित्र उसके साथियों—केशरी और निर्माल्य—के लगे हैं। सामने के सारे चित्र वीरू के पंथवालों ही के हैं। सामने की ओर भी बहुत से चित्र लगे हैं। कहते हैं, ये सब व्यक्ति भारतवर्ष में पचास वर्ष पूर्व बहुत प्रसिद्ध थे। इनके नाम इतिहास में उन्नायकों के रूप में दिये हैं। कमरे के दाहिनी ओर धर्म प्रचारकों को स्मरण किया गया है—ईसा मसीह, रसूल, मुहम्मद, गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी, स्वामी दयानन्द, राममोहन राय, राधास्वामी महाराज। कमरे की शेष दीवार पर तीन बड़े २ चित्र लगे हैं। एक केन्द्रीय परिषद् के पहले प्रधान मन्त्री महामान्य नरसिंह नारायण जू न० प्र० स० की० का चित्र है और दूसरा केन्द्रीय धारासभा के प्रथम राष्ट्रपति 'सब्बालक-शिरोमणि' राममूर्ति धर्ममूर्ति लॉर्ड 'ध्रुव' क० स० की० का हैं। तीसरा स्वयं

वीरू महाशय का है। चित्रों के इस सङ्कलन की स्वरूप-सृष्टि श्रीमती महासेनाधिनायिका महारानी नलिनी के मस्तिष्क में हुई थी। सजावट का ढङ्ग भी उन्हीं का है। कमरे के फ़र्श पर एक अत्यन्त मूल्यवान् और सुन्दर क़ालीन बिछा हुआ है। ऊपर की छत पर 'मयंक-मार्तंड' नामक हस्तिनापुर के एक प्रसिद्ध टाइल्सकार्यालय के 'लोचन-ललाम' नामक टाइल्स लगे हैं। एक कोने पर 'शब्द-तरंग दर्पण' रक्खा है। आज से एक सप्ताह पूर्व वीरू कभी-कभी निर्वाचन का कोलाहल सुनने के लिए और कभी-कभी नेताओं के सम्भाषण का आनन्द लेने के लिए इस यन्त्र को अपने पलँग के निकट रख लिया करता था। कमरे की सजावट में हँसती और नृत्य करती हुई पुतलियाँ, बोलता और अभिवादन करता हुआ पुरुष तथा पिंजड़े में दौड़ते हुए और खिलखिलाते हुए बालकों का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। न तो कहीं बिजली के तार हैं और न बत्तियाँ ही कहीं दिखाई देती हैं। दीवारों के भीतर ही सारा प्रकाश सन्निहित है। सारी बत्तियों को खोलने पर सब कमरा प्रकाश से जगमगा उठता है। इस कमरे की बनावट ऐसी है कि पवन के अवरोध और आगमन के लिए विशेष आयोजन है। कमरे का आकार ही इच्छानुकूल परिवर्तित किया जा सकता है। एक छोटे से पुस्तकाधार में रामायण, महाभारत और गीता रक्खे हैं। अन्य आधारों में और पुस्तकें भरी हैं। एक स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा हुआ टँगा है—"जब जब होई धरम की हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी। तब-तब धरि प्रभु मनुज-शरीरा, हरहिं दयानिधि सज्जन-पीरा।"

(१)

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

(श्री वेंकटेशनारायण तिवारी)

आज से १०० वर्ष बाद, जब बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का इतिहास लिखा जायेगा, तब आजकल के बहुत से चमकते हुए नामों की क्या गति होगी, यह कहना हमारे लिये असम्भव है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के बहुत से नामी ग्रामी पेशवाओं की बाबत शायद वर्तमान युग का भावी इतिहास-लेखक अपने ग्रन्थ में एक शब्द भी लिखना मुनासिब न समझेगा। पास होने की वजह से पहाड़ की जो छोटी-छोटी चोटियाँ ऊँची दिखाई देती हैं, उनसे आप ज्यों-ज्यों दूर होते जाइये त्यों-त्यों वे छोटी मालूम होने लगती हैं, यहाँ तक कि ज्यादा दूर होने पर वे बिलकुल ही छिप जाती हैं। यही हालत मानव-जाति की भी है। जो सहयोगी आज नजदीक होने के कारण बहुत बड़े मालूम होते हैं, वे ही समय की गति से धीरे-धीरे महत्व में घटने लगते हैं। जहाँ हमारा ऊपर का कथन सही है, वहाँ इसका उलटा सिद्धान्त भी अनुभव से ठीक जँचता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें उनके समकालीन नगण्य समझते हैं। लेकिन वे ही आगे चल कर संसार के महापुरुषों में गिने जाते हैं। हमारी सम्मति

में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की गणना इस दूसरी श्रेणी के नर-पुङ्गवों में है। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जायगा त्यों-त्यों लोग इनकी साहित्यिक सेवाओं की महिमा को अधिकाधिक अनुभव करने लगेंगे। उत्तरीय भारतवर्ष के आधुनिक राष्ट्र-निर्माताओं में भविष्य का इतिहास-लेखक द्विवेदी जी को बहुत ही प्रतिष्ठित पद देगा। इस समय जब साहित्यिक विवादों की रण-दुन्दुभि की आवाज हमारे कानों में गूँज रही है, और द्विवेदी जी ने इन साहित्यिक विवादों में बहुत काफ़ी भाग लिया है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहेंगे कि जहाँ तक विवादों का सम्बन्ध है, वहाँ तक द्विवेदी जी को हिन्दी जगत् में परशुराम जी का साहित्यिक अवतार समझना चाहिए।

आज से लगभग २१ साल पहले की बात है। उस समय यह लेखक कानपुर के एक कालेज में पढ़ता था। पूज्यपाद पं० देवीप्रसाद शुक्ल भी लेखक के अध्यापक थे। जिन्होंने पंडित देवीप्रसाद शुक्ल के चरणों में बैठ कर शिक्षा पाई है, उन्हें उनके पढ़ाने की शैली के प्रति अगाध श्रद्धा है। अध्यापक का काम है—अपने विद्यार्थी के मस्तिष्क में ज़बरदस्ती ठूँस-ठूँस कर अरोचक और निर्जीव बातों का भरना नहीं, बल्कि अपने व्याख्यानों और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव के द्वारा उसकी सोती हुई आत्मा को जगा देना। यही देव दुर्लभ गुण पं० देवीप्रसाद जी में विशेष रूप से मौजूद था। शुक्ल जी दर्जे में दो हज़ार वर्ष पहले की घटनाओं को पढ़ा कर ही सन्तुष्ट न हो जाते थे, किन्तु वह आजकल की विचार-धाराओं तथा राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं की ओर भी

अपने शिष्यों का ध्यान आकर्षित करते थे। हम लोगों ने फ़ीरोज़ शाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, तिलक, गोखले आदि की कीर्ति कथा को पहले-पहल शुक्ल जी ही के मुखारविंद से सुना। रोम और ग्रीस के इतिहास को पढ़ाते हुए, शुक्ल जी कालेज में बम्बई (१९०४ ई०) और बनारस (१९०५ ई०) की काँग-रेसों की कहानी सुनाया करते थे। उन्होंने हिन्दी की ओर भी हम लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्हीं की जिह्वा से हम लोगों ने पहली बार द्विवेदी जी की प्रशंसा सुनी; और उन्हीं के द्वारा उनके दर्शन का सौभाग्य भी हम लोगों को प्राप्त हुआ। जब तक मैं कानपुर में रहा, तब तक, इतवार के दिन जूही की यात्रा हम लोगों के जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गई थी। जेठ की तपती हुई दोपहरी हो या भादों का कीचड़, सब इतवार हम लोगों के लिये समान थे। भोजन करने के उपरान्त, हम चार-पाँच मित्र कभी पैदल और कभी इक्कों पर, रवाना हो जाते थे; और वहाँ पर घण्टे, दो घण्टे के लिए मूक श्रोता बन कर द्विवेदी जी से साहित्य-चर्चा सुना करते थे। बालोचित विनम्रता, सादगी, समय का सदुपयोग, आदि, उनके गुणों ने हम लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया, जो उसी समय मिटेगा, जब चिता के ऊपर हमारा भौतिक शरीर पंचत्व को प्राप्त होगा।

द्विवेदीजी के चित्र को देखिये। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

यदि उन्नत ललाट उनकी मनस्विता की सूचक है, तो भृकुटी-विशेष उनके संकल्प की दृढ़ता और उद्देश में "तल्लीनता" की द्योतक है। उनमें क्या वात्सल्य-भाव है! मित्र या भक्त के लिए यदि द्विवेदीजी के हाड़ या चाम की भी जरूरत पड़े तो हँसते हुए दधीचि की तरह उन्हें देने में तनिक भी संकोच न करेंगे। 'संकोच' शब्द का इस सम्बन्ध में प्रयोग द्विवेदीजी के साथ अन्याय करना है। नहीं, संकोच तो ऐसे मामलों में उनके पास भी फटकने की धृष्टता न करेगा। ऐसे अवसरों पर द्विवेदीजी अपने मित्र या भक्त को मुसीबत से बचाने के लिए अपने सर्वस्व को न्योछावर करने में मित्र के ऊपर एहसान करने का अनुभव भी नहीं करते। मित्र का एहसान उलटा उनके ऊपर होता है कि उसकी बदौलत द्विवेदीजी को आत्म-समर्पण का अवसर मिला।

हिन्दी-संसार में उनका एकछत्र राज रहा है। उसके लिये उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। हाँ, हिन्दी की सेवा करने के लिये अपने को समर्थ बनाने में; द्विवेदी जी ने जिस लगन के साथ प्रारम्भ ही से कोशिश की, उसकी कहानी प्रत्येक नवयुवक के लाभ के लिये सोने के अक्षरों में अङ्कित करना आवश्यक है। किसी राजा या ताल्लुकेदार के घर में इनका जन्म नहीं हुआ। सुव्यवस्थित ढङ्ग से पढ़ने का अवसर भी उन्हें कभी प्राप्त न हो सका। रायबरेली, उन्नाव, फतेहपुर, फिर उन्नाव और उसके बाद बम्बई के चक्कर थोड़े ही वर्षों के अन्दर द्विवेदी जी ने लगाये। लेकिन सरस्वती की आपके ऊपर कृपा थी। हज़ार कठिनाइयों के होते हुये भी किसी

विघ्न-बाधा की परवा न कर, यदि दिन में अवसर मिला, तो दिन में और अगर न मिला, तो रात ही में सही, उन्होंने सरस्वती की पूजा की। हज़ारों आदमी सब तरह की सुविधा होने पर भी नहीं पढ़ पाते और अनुकूल साधनों के न होने के कारण बेपढ़े ही रह जाते हैं। लेकिन द्विवेदी जी संसार के उन इने-गिने आदमियों में हैं, जो खुद अपने भाग्य के निर्माता होते हैं।

हमारे एक मित्र ने द्विवेदी जी की सरस्वती की पूजा में तल्लीनता की एक बड़ी ही फड़कती हुई घटना बताई है। आप जब रेलवे की नौकरी करते थे, तब एक पण्डित आपको संस्कृत पढ़ाने के लिए आया करते थे। पण्डित जी को आप कुछ रुपया माहवारी दिया करते थे। आपका संस्कृत पढ़ना और उसके लिये खर्च करना उस समय भी न छूटा जब आप अपनी नौकरी से स्तीफ़ा देकर कुछ दिन तक बेरोज़गार घर पर बैठे रहे। आपने घर के आवश्यक खर्च में कमी कर दी, परन्तु संस्कृत पढ़ने के इस खर्च में कोई कमी न होने पाई।

अंग्रेज़ी, संस्कृत, उर्दू, बङ्गला, गुजराती और मराठी भाषाओं पर आपका अद्भुत अधिकार है, लेकिन साथ ही उनमें अद्भुत विनम्रता भी है। एक दफ़ा इस लेखक ने विनीत भाव से द्विवेदी जी के अंग्रेज़ी भाषा के ऊपर अधिकार पर अपने आश्चर्य को प्रकट करने की धृष्टता की। उत्तर में आपने कहा—"मुझे अंग्रेज़ी का ज्ञान, भला, कहाँ?" जिन्होंने द्विवेदी जी के अंग्रेज़ी में लिखे हुए पत्रों को पढ़ा है, वे ही यह बता

सकते हैं कि उनकी भाषा में कितना ओज और चमत्कार होता है। प्रायः देखने में आता है कि बाज लोग अपने पाण्डित्य के बोझ से बेतरह दब जाते हैं। सोते-जागते, उन्हें इसके कारण चैन नहीं पड़ता। मिलने वाले भी उनके इस दुरूह भार की पीड़ा को देख कर चिन्तित हो जाते हैं। किन्तु आप अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य को उसी तरह धारण किये हैं, मानो वह फूलों की माला है।

उनके हिन्दी के ज्ञान के विषय में कुछ कहना नामुनासिब है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जब तक हिन्दी भाषा जीवित है तब तक चिरस्थायी रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप, भट्ट और व्यास के गद्य-लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है। उनकी कृतियाँ हिन्दी के साहित्य-रत्नों में बहु-मूल्य हैं। लेकिन उनके समय के हिन्दी गद्य को लीजिये और आजकल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि तब और अब के गद्य में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। उस समय उसका शैशव-काल था। अब उसमें प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी गद्य ठीक जेठ की गङ्गा जी के समान था। उसके उथले जल पर हलके विचारों की छोटी-छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सम्हाल कर खेते थे। द्विवेदी जी की बदौलत, अब उसी गद्य-धारा में

गहराई की गई है, और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया है, जिस पर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े जल-पोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं और इन, द्विवेदो जी ही के शब्दों में, 'युग-परिवर्तन-कारिणी" क्रांति के सफल विधायक द्विवेदी जी हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुँधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार-बार चढ़ाया और तब तक उसे चढ़ाते ही चले गए, जब तक उसके अनन्त पहलुओं से अभूत-पूर्व आभा न जगमगाने लगी। एक दूसरे अवसर पर प्रयोग किए गए द्विवेदी जी के ही शब्दों में, उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सब से बड़ा और प्रतिष्ठित नायक भावी इतिहास-लेखक द्विवेदी जी ही को स्वीकार करेगा।

द्विवेदीजी की टक्कर का साहित्यिक संसार में अगर कोई महारथी हुआ है, तो वह डाक्टर जान्सन ही हैं। जिन लोगों ने अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास का परायण किया है, उन्हें इसके बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुत-सी बातों में डाक्टर जान्सन और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में समानता है। डाक्टर जान्सन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं, जितना अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के द्वारा, अँगरेज़ी-साहित्य के विकास की गति और क्रम को प्रभावित किया है। इस समय भी अँगरेज़ी साहित्य के गद्य और पद्य के,

संग्रहों में विद्यार्थी को डा० जान्सन के फुटकर लेख या पद्य पढ़ने को मिल जाते हैं। लेकिन डाक्टर जान्सन का नाम यदि अमर है, तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अँगरेज़ी साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियों तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा, तो भी उसे कामयाबी न होगी। इसी तरह से, लेखक को इसमें संदेह है कि द्विवेदीजी की संपूर्ण ग्रन्थावली को आज से १०० वर्ष बाद लोग पढ़ेंगे। उस समय के गद्य-पद्य के संग्रह में, बीसवीं सदी की हिन्दी-साहित्य की शैली के नमूनों के रूप में, उनके लेख सम्मिलित ज़रूर होंगे, लेकिन वाल्टेयर (फ्रांस) या बर्क (इंगलैंड) के गद्य ग्रन्थों की तरह द्विवेदीजी के ग्रन्थों का अध्ययन साधारण लोग २००० ई० में शायद ही करें। यह सब होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं है कि द्विवेदीजी का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर होगा। इसलिए नहीं कि उन्होंने अनमोल ग्रन्थों की रचना की है, बल्कि इस लिए कि डा० जान्सन की तरह उन्होंने हिंदी-गद्य के व्यवस्थित विकास में अन्यतम भाग लिया है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी हिंदी गद्य के यदि स्रष्टा या निर्माता नहीं हैं, तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डा० जान्सन ही की तरह द्विवेदीजी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करने वाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मण्डली के पूजास्पद हुए हैं। डा० जान्सन ही की तरह द्विवेदीजी में

भी मैत्री का अपूर्व गुण है । जैसे जान्सन, वैसे ही द्विवेदीजी ने अपनी प्रेरणा और उत्साह-दान से बहुतों को हिन्दी लिखना सिखाया और मातृ-भाषा की सेवा के लिये प्रोत्साहित किया है।

इस गुण में द्विवेदीजी और स्व० बंकिमचन्द्र चैटर्जी में बहुत बड़ी समानता है । एक वार लेखक द्विवेदीजी के दर्शनों के लिये जूही गया था । द्विवेदीजी ने उससे हिन्दी में लिखने के लिए कहा । उसने खेद प्रकट किया कि मैं हिन्दी नहीं लिख सकता । उन्होंने उत्तर दिया—"तुम हिन्दी क्यों नहीं लिख सकते ? पढ़े-लिखे हो, उच्च शिक्षा पाई है । क्या यह तुम्हारा धर्म नहीं है कि तुमने पश्चिम से ज्ञान की जो उपलब्धि की है, उसको उन तक पहुँचाओ, जिनके लिए भाषा-भेद के कारण वहाँ के साहित्यनिधि के अनेक दरवाज़े सदा के लिए वन्द हैं।" इस पर उन्होंने उस बात-चीत का ज़िक्र किया, जो बंकिम बाबू और स्व० रमेशचन्द्रदत्त में इसी सम्बन्ध में हुई थी । बंकिम ने दत्त से कहा, "आप अँगरेज़ी में तो लिखते हैं, यह खुशी की बात है । लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बंगला-साहित्य के प्रति बिलकुल उदासीन हैं । बँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते ?" इस पर दत्त बोले, "क्या करूँ, "बँगला में लिख नहीं सकता।" यह सुन कर बंकिम वावू बिगड़ उठे । उन्होंने कहा, आप बँगला में लिख नहीं सकते ? बँगाली होकर बँगला में लिख नहीं सकते, कितने अचरज की बात है।" दत्त ने कहा, "कैसे लिखूँ।" बंकिम बाबू ने उत्तर दिया, "उसी भाषा में लिखिए, जिसमें

आप अपने घर में बातचीत करते हैं।" यह सुन कर दत्त हँस पड़े। उन्होंने कहा, 'लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।' जवाब में बङ्किम बाबू ने कहा, 'जो आप लिखेंगे वही ठीक माना जायेगा!' इस कथा के सुनाने के बाद द्विवेदी जी ने कहा, "साहित्य की भाषा मामूली बोलचाल की भाषा से भिन्न नहीं है। इस लिये तुमको चाहिये कि तुम हिन्दी लिखो। हिन्दी से अनभिज्ञ होना तुम्हारे लिये कलङ्क की बात है। जिस मातृ-भाषा के कारण तुम्हें घर और समाज में अनेक तरह की सुविधाएँ हैं, उसके ऋण से तुम आंशिक रूप में भी तब तक उऋण नहीं हो सकते, जब तक तुम हिन्दी की सेवा का प्रयत्न न करोगे। उसको उन्हीं का भरोसा है जो इस समय विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। क्या तुम विश्वासघात कर कृतघ्न बनना चाहते हो?"

इस लेखक को मालूम है कि ऊपर जिस बातचीत का जिक्र है, उसी तरह की बातचीत वह उन सब नवयुवकों से किया करते थे, जो उनके पास यदा-कदा दर्शनों के लिये पहुँच जाते थे। न जाने, कितने लोगों को द्विवेदी जी ने हिन्दी लिखने के लिये उत्साहित किया। लेखक को यह अच्छी तरह से ज्ञात है कि आजकल के बहुत से लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को द्विवेदी जी ही ने कलम पकड़ कर हिन्दी लिखना सिखाया और जब उनकी अबोध उङ्गलियाँ अनभ्यास के कारण ऊँट-पटांग लिख जाती थीं, तब द्विवेदी जी गुरुवत् स्नेह और सहानुभूति के साथ घण्टों बैठ कर उनकी बालोचित भूलों को सुधारने में अपना अनमोल समय खर्च करते थे। बहुत से लेखकों के लेख ऐसे

आते थे कि उनमें द्विवेदी जी को काट छाँट के बाद लेखक के नाम के अतिरिक्त और कुछ न रह जाता था। लेकिन 'सरस्वती' में जब ये लेख प्रकाशित होते, तब लेखक महोदय उन लेखों को देख कर अभिमान से फूले न समाते, यद्यपि उनमें सारी करामात द्विवेदी जी ही की थी, नाम केवल लेखक का होता था।

द्विवेदी जी और 'सरस्वती', इनमें इतना अभिन्न सम्बन्ध हो गया है कि इनमें से एक का नाम लेते ही दूसरे का नाम आप से आप होठों पर आ जाता है। द्विवेदी जी का लिखा हुआ स्वर्गीय बा० चिन्तामणि घोष के बारे में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसमें उन्होंने खुद बतलाया है कि किस तरह से द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। इस लिये हमें उस कथा के दोहराने की यहाँ पर कोई जरूरत मालूम नहीं होती लेकिन एक बात उस लेख में नहीं कही गई है। उसे द्विवेदी जी कह भी नहीं सकते थे। वह यह है—बा० चिन्तामणि घोष की हिन्दी के प्रति सेवाओं में सब से चिरस्मरणीय सेवा यह है कि उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी-जगत् के सामने द्विवेदी जी की अद्वितीय प्रतिभा के पूर्ण विकाश के लिये समुचित रङ्गमञ्च समुपस्थित कर दिया था।

जिस दिन द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन पर आकर बैठे वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अङ्कित होगा। क्योंकि उस दिन हिंदी-संसार में उस परिवर्तनकारिणी क्रांति का श्रीगणेश हुआ, जिसके कारण १८ वर्ष तक उथल-पुथल जारी रही और जिसका प्रभाव हमारे साहित्य की गति और उसके विकास में व्यापक और

चिरस्थायी है। उसके लेखों के संकलन और सम्पादन की शैली एवं नवीन और प्राचीन विषयों का विवेचन हिंदी संसार की नित नूतन आदर्शों को ओर आकर्षित करते थे।

द्विवेदीजी के समय की 'सरस्वती' में एक विशेषता थी। वह श्मशान की निखिल शांति के प्राण-घातक मन्त्र का पाठ अपनी प्रत्येक पंक्ति से पाठकों को नहीं पढ़ाती थी। उसमें जान थी, जीवन की चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल वह दुर्गम पर्वतों और दुरूह गुफाओं में अमृत सलिल के ढूँढ़ने के लिए सदैव तत्पर थी।

द्विवेदी जी सम्पादन के मूल-मन्त्र को अच्छी तरह से जानते थे। पत्र या पत्रिका की जान विवाद-ग्रस्त विषयों का छेड़ना है। उन्होंने अपने समय में 'सरस्वती' में न जाने कितनी बार ऐसे मामलों को जनता के सामने रखा। पुराने और गम्भीर विषयों को सत्समालोचक की तीव्र और तीक्ष्ण सहानुभूति के सहारे आधुनिक पाठकों के लिये नवीनता के साथ मनोरञ्जक बनाने में द्विवेदी जी ने साहित्य में वही काम किया, जो मैथ्यु आरनाल्ड ने अपनी समालोचनाओं के द्वारा अंगरेज़ी साहित्य के लिये किया। आज तक हिन्दी-जगत् में दिवेदी जी के पाए का कोई दूसरा सम्पादक नहीं हुआ। भविष्य में कब ऐसा दूसरा सम्पादक हमें नसीब होगा, यह कोई नहीं कह सकता।

दया

(पं० चतुरसेन शास्त्री)

यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है । यह मेरे हृदय का शृङ्गार है । इसकी स्मृति से मन में प्राण-संजीवन होता है । मैं यह कार्य करूँगा । यह सच है कि वह मेरा कोई नहीं, वह पापी पतित है । उस पर सभी का कोप है । हाय! भगवान् का भी कोप है । कुछ उस पर क्रोध करते हैं, कुछ दुरदुराते हैं, कुछ घृणा करते हैं और कुछ अविश्वास करते हैं। इतना सह कर वह कैसे जी सकेगा ? इससे तो अच्छा यही है कि उसे लोग मार डालें । जिसे ठिकाना नहीं। आश्रय नहीं, उत्तेजना नहीं, प्रेम नहीं, आदर नहीं, वह इस पृथ्वी पर स्वार्थ की हवा में कितने दिन साँस ले सकेगा ? चाहे जो कुछ भी हो । लोग चाहे मुझ से रूठ जायँ, पर मैं उसे अवश्य प्यार करूँगा । यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृङ्गार है । इसकी स्मृति से मन में प्राण संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा।

वह नीच है, अछूत है, मलिन है, इससे क्या ? क्या उसके शरीर में वही आत्मा नहीं है जो हमारे में है ? उसके जैसे हाड़-मांस क्या हमारे शरीर में नहीं हैं ? वह ईश्वर का पुत्र है। उसके शरीर का प्रत्येक कण ईश्वर के हाथ की निजू कारी-

गरी है। ईश्वर ने उसे स्वयं बनाया है और आज तक पाला है। बिना उसके वातावरण के क्या वह इतना बड़ा होता? यह बात झूठ है? अब न सही, पर कभी तो उसने प्यार पाया होगा? क्या कोई ऐसा बच्चा देखा है जिसने माँ की छाती से चिपट कर मधुर दूध न पिया हो? क्या किसी ने ऐसा बच्चा देखा है जिसने बाप के लाड़ न देखे हों? और इसने क्या बचपन को पार नहीं किया है? आज उसकी यह दशा हुई। प्यार से गया, सुख से गया, घृणा, क्रोध, तिरस्कार की बौछारों से मरा जा रहा है। क्या प्यार की प्यास इसके मन से बुझ गई होगी? एक बार जिसने मिश्री खाई है, क्या वह उसके मिठास को भूल सकता है? वही प्यार मैं उसे दूँगा। जैसे प्यासे के पानी पीने से उसके प्राण शीतल हो जाते हैं, जैसे अन्न पाकर भूखों की आँखों में ज्योति आ जाती है, उसी तरह इसे प्यार पाकर सुख मिलेगा। वह मुझे प्यार करेगा। प्यार क्या योंही मिलता है? कितने मरं, कितने खपे, मैं प्यार को पाऊँगा। गुणों पर प्यार होता है, ठीक है उसे प्रेम कहते हैं। एक प्यार चाहना का होता है, उसे मोह कहते हैं। यह प्यार वासनाहीन है, इसमें न गुण देखे जाते हैं, न दोष, न नीच, न ऊँच, न पाप न पुण्य। केवल दुःख देखा जाता है। चाहे जो हो, चाहे जिस कारण से दुःखी हो, उसे प्यार करना इस प्यार का एक प्रकार है। इस प्रकार को कहते हैं दया। भगवान दयालु हैं। दया भगवान की नियामक सत्ता है। भगवान् के पालन में दया है, संसार में भी दया है। यही दया उसे अतुल न्यायी बनाये है। जो न प्यार के, न आदर के, न प्रतिष्ठा के, न काम के पात्र

हैं, वे सब दया के पात्र हैं। अच्छी तरह समझ गया हूँ। देखते ही पहचान लूँगा। छूटते ही दया करूँगा। यह देखो, मन में कैसा हर्ष उत्पन्न हुआ, आत्मा में कैसा सन्तोष मिला यह दयाधन का प्रताप है। हे प्रभु! मेरे हृदय में दया को स्थायी बना। दया मेरे नेत्रों में बसे। दया मेरे पथ का प्रकाश हो।

[अन्तस्तल]



सम्मिलित कुटुम्ब

(श्रीराम शर्मा)

वेदान्त का सार है—एक शब्द में—ओ३म् और सम्मिलित कुटुम्ब का आधार और सार है—एक ही शब्द में—त्याग। सम्मिलित कुटुम्ब-रूपी लता सद्भाव और पारस्परिक सहनशीलता के जल-सिंचन से लहलहाती है, और निरंकुशता और स्वार्थाग्नि से जल कर खाक हो जाती है। स्वार्थ, अत्यधिक व्यक्तिगत लाभ, रिश्ते में छोटों की उपेक्षा और कठोर शासन से कौटुम्बिक जीवन के सुख की वीथी कलह, द्वेष और शत्रुता के रोड़ों से भर जाती है, और कौटुम्बिक जीवन के सुख-प्रासाद का भग्नावशेष विवाह और मौत-सम्बन्धी रस्मों में ही, पुच्छल तारे की भाँति, कभी-कभी चमक जाता है। बहुत से कुटुम्बों में तो पारस्परिक कलह के कारण बोल-चाल तक बन्द हो जाती है, और छोटे—पूरे महाभारत प्रायः प्रति सप्ताह घरों में रचे जाते हैं। फलस्वरूप भाई-भाई, चाचा-भतीजों, बाप-बेटों और अन्य प्रिय जनों को अलग होना पड़ता है। बचपन का स्नेहपूर्ण जीवन, साथ का खेलना-घूमना, मातृ-प्रेम, वात्सल्यपूर्ण व्यवहार और बालपन की सुखद स्मृतियाँ, बड़े होने पर, ऐसी धूमिल और अस्पष्ट

दिखाई पड़ती हैं, जैसे पर्वत-शिखर से क्षितिज की सीमा पर वृक्ष।

पर यह सब क्यों होता है ? इस थोड़े से जीवन में मनुष्य सम्मिलित कुटुम्ब रूपी वृक्ष का, जिसकी शीतल छाया में वह पनपा था, मूलोच्छेद क्यों कर देता है ? यदि कहा जाय कि चिड़ियों और पशुओं के बच्चे भी बड़े होकर अपने कुटुम्ब को ठुकरा देते हैं, अपने पैरों खड़े होते हैं, और स्वयं उनके मां-बाप बच्चों के बड़े होने पर सींगों और चोंचों के आघात से उन्हें अलग कर देते हैं, तो उसका साधारण-सा उत्तर यह है कि मनुष्य और पशु में विभाजक रेखा हैं। बुद्धि और अवनति और उन्नति-पथ पर उतरने और चढ़ने की अपार शक्ति। पर बुद्धि और कर्तव्यपरायणता के होने पर भी सम्मिलित कुटुम्ब किसी युग मे नहीं चला और वर्तमान युग में वह चल नहीं सकता। पाठकों से हम एक साधारण-सा प्रश्न करते हैं। वह यह कि क्या वे ऐसे सौ सम्मिलित कुटुम्बों को जानते हैं। जो चार पीढ़ियों से सम्मिलित हों।

जीवन प्रगतिशील है नदी के बहाव के समान। बौद्धिक दृष्टि से नहीं, वरन प्राकृतिक दृष्टि से किसी अवस्था तक सम्मिलित कुटुम्ब अवश्यम्भावी है—उसको कोई रोक नहीं सकता, ठीक उस प्रकार, जिस प्रकार चिड़ियों से अपने बच्चों को चुग्गा दिलाना कोई छुड़ा नहीं सकता। बच्चों का पालन-पोषण करना प्रकृति का नियम हैं, पर बच्चों के बढ़कर बाप हो जाने पर उनसे बूढ़े मा-बाप की खबरगीरी करना हज़रते इन्सान का काम है। कोई यह न समझे कि हम मा-बाप, भाई

बहन और कुटुम्ब-कबीलों की देख-रेख और पालन-पोषण करने के विरोधी हैं। हम कहते हैं कि खूब सहायता कीजिए, सेवा कीजिए, पर अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को—विशेष कर अपने अधीन अपनी जीवन-संगिनी की आत्मा को सम्मिलित कुटुम्ब के सर्वेसर्वा की अनुचित आज्ञा अथवा इच्छा का गुलाम न बनाइये।

सम्मिलित कुटुम्ब के गुणों को हम जानते हैं, पर हम इन पंक्तियों में सम्मिलित कुटुम्ब की बुराइयों का ही तनिक विचार कर रहे हैं। हम यह बात साफ़-साफ़ कह देना चाहते हैं कि हिन्दुओं का वर्तमान सम्मिलित कुटुम्ब-जीवन वैयक्तिक उन्नति के लिए तथा स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए बहुत घातक है, पर जब हम सम्मिलित कुटुम्ब के विरुद्ध इतनी कटुता दिखाते हैं, तब इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम भारत के कुटुम्ब-रूपी बिरवे पर अँगरेज़ी जीवन की क़लम लगाना चाहते हैं। हम केवल, अपनी समस्याओं को देशी ढग पर हल करना चाहते हैं। अच्छा, पहले सम्मिलित कुटुम्ब में होने वाली कलह और उसके दुष्परिणाम का कारण ढूँढ़िए।

वर्णाश्रम-धर्म की डुग्गी पीटनेवालों से हमें पूछना है कि क्या वे वर्णाश्रम-धर्म के वैज्ञानिक आधार का कुछ ख़याल करते हैं। मिलों और फैक्टरियों के मालिक जब गोरक्षा और वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा पुकार करते हैं, तब हमें यह प्रतीत होता है, मानो कोई सदा सुहागिन सतीत्व का उपदेश दे रही हो। क्यों? इसलिए कि वे स्वयं वर्णाश्रम-धर्म की साधा-

रया-सी बातों को भी नहीं निभाते। तब सौ वर्ष की आयु मानी जाती थी, तब पचास के उपरान्त गृहस्थ लोग वानप्रस्थ लेकर घर छोड़ देते थे और अपने बच्चों को घर का चार्ज देकर देश और आत्म-हित का चिन्तन करते थे और अब? अब तो हमने सत्तर वर्ष के बूढ़ों को मरते देखा हैं, तो भी उनकी अन्तिम कामना यही सुनी कि हाय, पौत्र का विवाह न कर पाये। मौत विवाह करने आ जाती है, पर घर की जमादारी—पुत्र-कलत्र की चिन्ता—नहीं जाती। हमारा संकेत यहाँ अमीरों की ओर है। बूढ़े बाबा की मरज़ी पर विवाह रचे जाते हैं, जिनमें अधिकांश अलमेल विवाह होते हैं। अमीरों के यहाँ—कुछ अपवादों की बात और है—कलह के बीज मुख्यतः बूढ़े बाबा और वे लोग बोते हैं, जो अपने बच्चों को केवल अपनी शान की चीज़ समझते हैं।

रहे ग़रीब और ग़रीबी तथा जुल्म पर बलि चढ़ने वाले प्राणी, सो उन्हें देख-देख कर कलेजा पक जाता हैं, पर ग़रीबों के सम्मिलित कुटुम्ब में भी सुख नहीं। यह हम मानते हैं कि ग़रीबों की कलह बहुत कुछ दूर हो सकती है ग़रीबों के दूर करने से, पर सैद्धान्तिक दोष फिर भी रह जायगा। जमादारी और घर के छोटे सदस्यों पर विकट शासन करने की प्रवृत्ति फिर भी बनी रहेगी।

हमारी बात को काटने के लिए यह पुरानी दलील पेश की जा सकती है कि जनाब, कपड़े में जूँ पड़ जायँ, तो जुओं को मार डालना चाहिये, न कि कपड़े को जला देना चाहिये। सम्मिलित कुटम्ब की प्रथा ठीक है, तब

उसे सुधारना चाहिये, न कि उसे मिटाना चाहिए। हमारा कहना है कि हज़रत, उस चिथड़े से क्या लाभ, जिससे न तो तन ढकता है और न कुछ शोभा ही होती है ? उल्टा जुओं द्वारा रक्तशोषण होता है। कपड़े के ऐसे चिथड़े को जला डालना ही श्रेयस्कर है।

सरकारी नौकरशाही में क्या कोई गुण है ? क्या उसमें कोई सुधार हो सकता है ? बस तो फिर सरकारी नौकरशाही से अधिक भयंकर है घर की नौकरशाही। आप देश में क्रान्ति की झंकार सुन रहे हैं। सत्ताधारियों के आसन डगमगाते देखते हैं। ज़ोरो-जुल्म की जड़ें भीतर-ही-भीतर खोखली हो रही हैं। आप नवीन युग के प्रभात का आभास पाते हैं। तब क्या आप समझते हैं कि क्रान्ति एकांगी होती है ? राजनीति का साधारण पाठक जानता है कि क्रान्ति एकांगी नहीं होती। यौवन आने पर शरीर का एक ही अंग पुष्ट नहीं होता, वरन् सब दिशाओं में उन्नति और परिवर्तन होते हैं, और वही बात राजनैतिक क्रान्ति की है, चाहे वह क्रान्ति अहिंसात्मक हो अथवा हिंसात्मक। फिर सामाजिक क्रान्ति हुए बिना राजनैतिक क्रान्ति सम्भव ही नहीं। यह हम मानते हैं कि क्रान्ति की ज्वाला राष्ट्र के सभी जीवनों को सुलगाती है, और राजनैतिक, सामाजिक, और आर्थिक क्रान्तियाँ साथ-साथ चलती हैं। सबका पारस्परिक सम्बन्ध है, पर सामाजिक क्रांति की आप उसे परिवर्तन कह लें —गति कुछ धीमी होती है। सम्मिलित कुटुम्ब की कड़ी आलोचना हम इसी लिये करते हैं कि वह हमें भारी-भरकम बोझे के साथ क्रान्ति-पथ पर चलाता है,

और बोझा लेकर दौड़ना—भारी हैंडीकैप रखकर दौड़ना स्वतन्त्रता की दौड़ में पिछड़ना है।

माता-पिता के जीवित रहने तक तो सम्मिलित कुटुम्ब का शकट खिचड़ता है। सास अपनी कई पुत्र-बधुओं के लिये जज का काम करती है। सब बधुओं के लिये उसे समान होना चाहिए, पर यदि किसी कारण से सास की वक्रदृष्टि किसी बधू पर हो गई, तो बेचारी की शामत आ जाती है और जिठानी साहब तो अपनी जमादारी मौके-बे मौके जमाती ही हैं। दिन-रात का साथ ठहरा। बचकर कहाँ निकल सकती है छोटी बहू ? फिर प्रत्येक बहू को सास, ननद और उनकी हम जोलियों के वाक-बाण सहने पड़ते हैं। उसके भाई और बाप के कढ़ी-पकौड़े खाये जाते हैं। भट्टी, उतार, ठगनी, दूती और अन्य शब्दों से उसका अभिवादन होता है। सम्मिलित कुटुम्ब के कर्णधार माता-पिता के देहावसान के उपरान्त तो घरों में गृह-युद्ध शुरू हो जाता है। बात-बात पर पटका-पटकी और कहा-सुनी हो जाती है। भैंस, कुत्ता और बकरी को संकेत करके दौरानी या दबैल को गालियाँ दी जाती हैं। बस सामाजिक जीवन बारूदमय हो जाता है और बात-बात पर धड़ाके होते हैं।

कुटुम्ब में अलग होने की शाखाएँ तो उसी दिन फूटने लगती हैं, जिस दिन घरों में बच्चे होते हैं। न्यारे-साँझे का प्रश्न भी खड़ा हो जाता है। बड़े भाई ने यदि छोटे भाई को शैशवकाल में बढ़ाया था, तो जेठानी साहबा कतरनी-सी जीभ चलाकर देवरानी पर व्यङ्ग कसती हैं कि मेरे आदमी ने

तेरे खसम को पिल्ले की भाँति पाला था। तू जन्म भर ऐहसान नहीं चुका सकती। धीरे-धीरे दब्बू देवरानी भी तेज़ी पकड़ती जाती है। बस, मोरचेबन्दी हो जाती है। भाई-भाई कुछ लिहाज़ करके रह जाते हैं, पर कौटुम्बिक जीवन में घाव हो जाने पर उसमें कीड़े ही पड़ते हैं। समय पाकर घर में दलबन्दी हो जाती है, और भाइयों को भी मोरचे पर आना पड़ता है। बिना आये काम नहीं चलता; क्योंकि घर की मालिकिन बड़ी बहू छोटी बहू को हज़ार ढङ्ग से सताती है—नौकरशाही की साक्षात प्रतिमा ही जो ठहरी। खाने-पीने में तङ्ग करना, मिलने जुलने वालों पर रोक लगाना और अपने आप मनमानी करना मालिकिन के बाएँ हाथ का खेल है। घर के काम करने में तो छोटी बहू ज़रखरीद लौंड़ी होती है।

छोटी बहू की ओर से प्रतिक्रिया देखने लायक उस समय होती है, जब उसका पति सम्मिलित कुटुम्ब का कमाने वाला होता है। ऐसी अवस्था में मज़लूम ज़ालिम बन जाता है, पर जिठानी के बड़प्पन की ऐंठ तो रस्सी की सी ऐंठ होती है। कुछ साधारण-सी बातों से भी कलह-अग्नि में आहुति पड़ती है। जवान स्त्री-पुरुष मिलना ही चाहें। घर में स्थान की कमी होती है। ग़रीब काश्तकारों के यहाँ तो ज़रा सी जगह में सभी संस्कार होते हैं। पति-पत्नि लुक-छिप कर मिलते हैं। सम्मिलित कुटुम्ब के बन्धन, लिहाज़ और स्वतन्त्रता का अभाव अखरता है। ऐसी ही बातों से मनमुटाव होने लगता है, और कलह-ज्वाला और भी प्रबल होती जाती है।

किसी के अधिक बच्चे होते हैं और किसी के कम, तो कम बच्चे वाली स्त्री समझती है कि आमदनी का अधिकांश भाग तो उसकी देवरानी या जिठानी ही खाये जाती है। जिसके बच्चा नहीं होता, वह समझती है कि उसके पति की आमदनी जिठानी या देवरानी के बच्चों पर क्यों खर्च की जाये। कलह-पूर्ण कुटुम्ब में यह भी होता है कि जिठानी के बच्चे जिठौत होने के जन्मसिद्ध अधिकार से अपनी चाची की तनिक भी इज्जत नहीं करते और अपने चचेरे भाइयों और बहनों को अपने से नीचा समझते हैं। फलस्वरूप दब्बूपन से देवरानी और उसके बच्चों में छुटाई का भाव आ जाता है और व्यक्तित्व बिलकुल दब जाता है।

बड़ी खींच-तानी से यदि सम्मिलित कुटुम्ब निभाया जाता है, तो घर में कुप्रबन्ध प्रारम्भ हो जाता है और भाइयों के अलग होने पर कलह और दब्बूपन द्वेष और घृणा का रूप धारण करते हैं। हमने दस बीस जगह देखा है कि बाप-दादों के लगाये हुए पेड़ों को—थोड़े से नींबू और खिन्नी के पेड़ों को इस लिये नहीं सींचा जाता कि अलग हुए भाई के कुएँ से पानी लेना पड़ेगा।

हम से कोई पूछ सकता है कि सम्मिलित कुटम्ब के ये दोष देहात में होंगे, पढ़े लिखे लोगों में नहीं हैं। हमें सर्वज्ञानी होने का दावा नहीं है; पर हम पूछते हैं कि भारतवर्ष में पढ़े-लिखे लोग हैं कितने, और जितने हैं भी, क्या उनके सम्मिलित कुटुम्ब हमारे आक्षेपों से परे हैं? एक दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि यदि देहात के बे-पढ़े आदमियों के लिये ये

बात लिखी है, तो व्यर्थ ही परिश्रम किया ? हमारा कहना है कि अनपढ़ कुपढ़ और अधपढ़ लोगों तक सन्देश पहुँचाते हैं पढ़े-लिखे लोग। पढ़े-लिखे लोग ही इन बातों का गम्भीरता से मनन करें, तब वे किसी नतीजे पर पहुँचेंगे।

तब फिर क्या किया जाये ? हमारी तुच्छ बुद्धि में रोग की औषधि साधारण है, और जब हम साधारण शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हिन्दू कानून और अन्य सामाजिक बातों का खयाल नहीं करते। प्रत्येक माता-पिता को चाहिये कि वे अपने बच्चों का विवाह उनकी इच्छा के बिना न करें और लड़कों से कह दें कि विवाह के बन्धन में वे तब तक न पड़ें, जब तक कि वे अपनी रोजी न कमा सकें और अपना घर अलग न बना सकें। अलग मकान न होने से दम्पति को कष्ट होगा। उनके व्यक्तित्व का विकास न होगा। विवाह के मानी होना चाहिए अपना अलग घोंसला बनाना और अपनी गृहस्थी का प्रबन्ध करना। विवाह होते ही अलग होने से एक खास बात यह होगी कि पारस्परिक प्रेम बजाय घटने के बढ़ेगा। सम्मिलित कुटुम्ब के द्वेष और कलह के स्थान में प्रेम और सहानुभूति का दरिया बहेगा। रही सहायता और अन्य बातों की, सो स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में पले प्राणी में उदारता, त्याग और सहानुभूति परतन्त्र और दब्बू व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है। अलग होने के मानी हैं अलग मकान और अलग खाना-पीना, चाहे वह पृथक्करण एक ही मकान के एक विशेष भाग में क्यों न हो।

हम दो-तीन ऐसे अच्छे सम्मिलित कुटुम्बों को जानते हैं, जहाँ पर देवरानी और जिठानी बड़े प्रेम और सहानुभूति से रहती हैं। अपने एक प्रिय मित्र की मां (जो अब जीवित नहीं है) को हम जानते हैं, जिन्हें मरते समय इस बात का दुःख था कि वे अपनी पुत्रवधू को घरकी सास—मालिकिन न बना पाईं, पर ऐसे घर और सासें कितनी हैं ?

विवाह के इच्छुक व्यक्तियों से हमारा आग्रह है कि वे माता-पिता की सम्पत्ति और विभूति पर अपनी निजी गृहस्थी की नींव न रखें। उनको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि बिना जीविका और बिना निजी घर के पाणिग्रहण-संस्कार के मानी होंगे क्लेश और दुःख से भी पाणिग्रहण करना और फिर गरीब आदमी के बच्चे होने का तांता लगता है, तो फिर जान कोफ्त में पड़ जाती है। फिर न घर सुधरता है और न बाहर। तेली के बैल की भाँति जुता रहना पड़ता है। देश-सेवा की हुंकार होती है। आगे बढ़ने और मोरचा लेने को जी मचलता है, पर घरकी चिन्ता, स्त्री का म्लान मुख और फूल-से बच्चों के मासूम मुखड़े देखकर मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। यह बात हम इस लिए लिख रहे हैं हमने बूढ़े बाबाओं और माता-पिताओं को आड़े हाथ लिया है। नवयुवक अपना कर्त्तव्य समझ लें, और उनकी विद्रोही की भावना केवल बाहरी नौकरशाही के ही विरुद्ध न हो, वरन् आवश्यकता पड़ने पर घरकी नौकरशाही के विरुद्ध भी हो ! विना जीविका और विना स्वतन्त्र मकान के विवाह के बन्धन में फँसने के मानी हैं सोते सिंह पर पैर रखना—माता-पिता और अन्य

सम्बन्धियों को क्लेश पहुँचाना और स्वयं घुट-घुटकर मरना। माता-पिता के बाद जो सम्पत्ति उन्हें मिले, वे उसका उपयोग करें, पर पिता की सम्पत्ति की आशा पर अकर्मण्य बनाना अनुचित है। हाँ, सम्मिलित कुटुम्ब का एक रूप हो सकता है, सो भी एक पीढ़ी के लिए।

इन पंक्तियों का लेखक यूरोप और अमेरिका में प्रचलित विवाह और वहाँ की बढ़ती हुई तलाक-प्रथा से अनभिज्ञ नहीं है, और उसे अख़बारी और किताबी दुनिया से ही नहीं वरन अपने यूरो.ीय और अमेरिकन मित्रों से भी मालूम है कि विलायती विवाह-पद्धति कोई आदर्शपूर्ण नहीं। वहाँ सम्मिलित कुटुम्ब नहीं और विवाह-शादी में माँ-बाप को कोई नहीं पूछता, तो भी वहाँ के सब विवाह सफल नहीं होते। हम तो पहले ही लिख चुके हैं कि हमें पाश्चात्य विवाह-पद्धति की कलम नहीं लगानी, पर भारतवर्ष के कूड़े-करकट रूपी रीति-रिवाज को जरूर ही तिलांजलि-देनी है। चढ़ती उमर में विवेक कम होता है। सीरत (गुण) की अपेक्षा सूरत पर ही युवा मुग्ध होते हैं, पर क्यों न वे स्वयं अपने पथ के खोजी बनें ? चाहें तो मां-बाप से सलाह करें और उनसे सहायता लें। कौन से माता-पिता हैं, जो अपने बच्चों का हित न चाहते होंगे ?

हम जानते हैं, हमारी अनेक असहाय, तपस्विनी और दुःखी बहनें—ऐसी जिनके शील में हिमालय भी समा जाय—अपना निर्वाह सम्मिलित कुटुम्ब के कारण करती हैं, पर उनका निर्वाह सम्मिलित कुटुम्ब के अभाव में भी हो सकता है, और शायद और अच्छी तरह। सम्मिलित कुटम्ब में

तो यदि एक भाभी उनको चाहती है तो दूसरी इसी बात पर तिनक जाती है कि उसकी देवरानी या जिठानी ननद से अधिक प्रेम क्यों करती है ।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने हिन्दुओं के कुटुम्ब को वैज्ञानिक बातों की खिल्ली उड़ाई है । हमने तो कौटुम्बिक जीवन के कलुषित रूप की ओर संकेत किया है, ताकि युवक युवतियाँ और उनके माता-पिता अपने सामाजिक जीवन को सुखी बना सकें और देशहित में हाथ बँटा सकें । आशा है, पाठक हमारी बात पर गम्भीरता से विचार करेंगे ।

स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य

(श्री चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी० टी०)

प्राचीन समय में भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा का क्या उद्देश्य रहा होगा, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो प्राचीन इतिहासादि के पढ़ने से अवश्य ज्ञात हो जाता है कि उस समय स्त्री को ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाती थी। स्त्री और पुरुष मानसिक विकास की दृष्टि से एक ही क्षेत्र में विचरते थे। उनमें सामाजिक दृष्टि से कोई भेदभाव न था। दोनों को स्वतन्त्रतापूर्वक रहने और आत्मिक उन्नति करने के समान रूप से साधन प्राप्त थे। स्त्री और पुरुष की स्थिति में वह विषमता न थी, जो आज पाई जाती है। इस लिये उस समय स्त्री की स्वतन्त्रता व अधिकारों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। इस लिये स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी अधिकारों की प्राप्ति जैसा कि इस समय है तब न रहा होगा। उस समय स्त्री का सारा ध्यान घर पर ही केन्द्रित रहा होगा और स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य सम्भवतः सद्‌गृहिणी बनना ही रहा होगा। किन्तु प्राचीन काल की गृहिणी का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गृहिणी के रूप में भोजन बनाने वाली स्त्री समय पड़ने पर देश का शासन-कार्य

सम्भाल सकती थी, बच्चों को पालने वाली माता समाज, जाति तथा देश सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर. अपनी राय प्रकट कर सकती थी।

किन्तु काल की गति अद्भुत है। एक समय आया जब कि गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, सावित्री की सन्तान बिल्कुल निरक्षरा बन गई। भारत से स्त्री-शिक्षा का लोप हो गया। इस समय न स्त्री-शिक्षा रही न उसका उद्देश्य। सदियाँ बीत गई स्त्री निरक्षरा बनी अविद्या के अन्धकार में व्यर्थ ही रास्ता टटोलती रही। अब से आधी सदी पूर्व तक स्त्री की यही हालत थी।

अन्त में कुछ तो स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन जैसे सुधारकों के प्रयत्न से और कुछ पश्चिम के सम्पर्क से फिर भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। शुरू में बहुत वर्षों तक स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य चिट्ठी-पत्री लिखना बना रहा। माता-पिता अपनी लड़की को केवल इस उद्देश्य से पढ़ाते थे कि वह चिट्ठी लिख सके और सुसराल जाकर अपनी कुशलता की दो-चार टूटी-फूटी लाइनें लिख कर माता-पिता को भेज सके। लड़की के लिये चिट्ठी लिखना-पढ़ना उस समय बड़ी बात समझी जाती थी, यह लड़की की एक बड़ी विशेषता मानी जाती थी। यदि कोई बहू लिखना-पढ़ना जानती थी तो मुहल्ले भर की स्त्रियाँ उसके पास चिट्ठी लिखवाने-पढ़वाने आती थीं और इस प्रकार मुहल्ले की स्त्रियों पर उसकी धाक जम जाती थी।

किन्तु स्त्री-शिक्षा, विकास की इस पहिली सीढ़ी पर देर तक न रुकी। आर्थिक तथा अन्य कारणों से नवयुवकों में शिक्षा का प्रचार अति तीव्र गति से बढ़ रहा था। नवयुवकों में शिक्षा की वृद्धि का प्रभाव स्त्री-शिक्षा पर भी पड़े बिना न रह सका। शिक्षित नवयुवक चाहता था कि वह कन्या भी, जिससे उसका विवाह हो, शिक्षिता होनी चाहिये। अभी तक एक होनहार युवक की अपनी भावी पत्नी के सम्बन्ध में ऊँची से ऊँची कल्पना होती थी कि वह धनी घर की बेटी हो, किन्तु अब उसकी अभिलाषा हो गई कि उसकी पत्नी धनी हो, या न हो किन्तु वह शिक्षिता अवश्य हो। नवयुवक-जगत् की इस एक-सुरी माँग का प्रभाव कन्याओं की शिक्षा पर यह पड़ा कि उनकी शिक्षा माता-पिता के लिये एक आवश्यक विषय बन गया। सम्भवतः माता-पिता की यह इच्छा रहती है कि उनकी लड़की को अच्छा घर-वर मिले। जब अच्छा घर और योग्य वर मिलने की शर्त शिक्षा बन गई तो विवश हो माता-पिता को अपनी लड़कियाँ पढ़ानी पड़ीं। इस प्रकार नवयुवकों की शिक्षा से जहाँ स्त्री-शिक्षा को एक प्रोत्साहन मिला वहाँ उसने स्त्री शिक्षा का उद्देश्य भी कुछ वर्षों के लिये निश्चित कर दिया। पहले स्त्री शिक्षा का लक्ष्य केवल चिट्ठी-पत्री लिखने की योग्यता पैदा करना रहा, किन्तु अब यह न रहा। इस समय स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य विवाह क्षेत्र में कन्याओं के मूल्य को बढ़ा देना हो गया। जो माता पिता अपनी लड़की को मिडिल तक भी पढ़ा देते, ग़रीब होते हुये भी उन्हें

अपनी लड़कियों के लिये पढ़े-लिखे कमाऊ लड़के आसानी से मिल जाते थे।

अभी कहा गया था कि नव-युवक संसार में शिक्षा का प्रचार होने से स्त्री-शिक्षा में भी अत्यन्त वृद्धि हुई। भारतवर्ष में इस समय जो शिक्षा की लहर आई थी, वह पश्चिम से आई थी। यह पश्चिमी शिक्षा भारतीय नवयुवक तथा युवतियों के लिये उपयुक्त थी या नहीं, इस पर विचार करना इस लेख का विषय नहीं। किन्तु स्वतन्त्र देश से आई हुई इस शिक्षा का प्रभाव यह अवश्य हुआ कि भारतीय नवयुवकों और विशेषकर नवयुवतियों में स्वतन्त्रता की भावनायें जागृत हो गईं। अभी तक पुरुष के लिये जीना ही स्त्री का एक मात्र धर्म था और पुरुष के अत्याचारों को सहते जाना ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य। समाज के अन्दर न उसका कोई अलग स्थान था और न पुरुष से पृथक उसकी कोई सत्ता ही थी। किन्तु यह सब होते हुए भी न तो स्त्री को अपनी अधोगति का ज्ञान था और न उस पतितावस्था से छुटकारा पाने की इच्छा ही थी। किन्तु शिक्षा पाने पर नारी का हृदय अपने ही पूर्व स्वभाव के विरुद्ध विद्रोही हो उठा। माता का उच्च स्थान रखते हुये जाति निर्माण का भारी उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए भी समाज में उसका कोई स्थान नहीं, मनुष्य होते हुए भी उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं—क्या यह उचित है? अपनी स्थिति के औचित्य तथा अनौचित्य सम्बन्धी इस प्रकार के सन्देहों से उसका मन विक्षुब्ध हो उठा। उसको अपनी वास्तविक अवस्था का एक क्षण में भान हो गया। सहिष्णुता की

चरम सीमा का उल्लङ्घन करके भी वह अपने दुखों का अन्त क्यों नहीं देखती, पाषाण-प्रतिमा, बन कर भी उसे अत्याचारों से छुटकारा क्यों नहीं मिलता, मनुष्यता के दिव्य गुणों से युक्त होने पर भी आज उसकी गणना मनुष्यों में क्यों नहीं की जाती है, स्वतन्त्र होने की योग्यता रखते हुए भी आज वह परतन्त्र क्यों है—यह प्रश्न शिक्षित महिला के हृदय में उठे और अपना हल ढूँढ़ने लगे। स्त्री ने अपनी स्वतन्त्रता का प्रश्न हल करने के लिये जमीन-आसमान ढूँढ़ डाला। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि पराधीनता का मुख्य कारण उसका आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर अवलम्बन है।

शिक्षित महिला अब किसी न किसी प्रकार अपनी वर्तमान दुरवस्था का अन्त कर देना चाहती थी। जब विचार करने पर वह इस परिणाम पर पहुँची कि आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित रहना ही उसकी पराधीनता का मुख्य कारण है, तो आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया। जिस कारण से उसके विशिष्ट से विशिष्ट गुण पुरुष की दृष्टि में अवगुण बन जाते हैं जिस कारण उसका महान उत्तरदायित्व ही उसकी निर्बलता का कारण बन जाता है वह कारण क्या है ? वह कारण यही तो है न कि पुरुष पैसा कमाकर लाता है, और स्त्री पैसा नहीं कमाती। वैसे तो यदि पुरुष बाहर काम करता है तो स्त्री घर में काम करती है, और उसका काम किसी दृष्टि से भी कम महत्व का नहीं कहा जा सकता। भेद केवल इतना ही है कि पुरुष को अपनी कमाई का पैसे के रूप में पुरस्कार

मिल जाता है और स्त्री को अपनी कमाई का कोई ऐसा पुरस्कार नहीं मिलता। यदि इस पैसे में ही यह सिफ़त है कि यह अवगुणों को गुण बना सकता है, कमज़ोरियों को शक्तियों का रूप दे सकता है, अनाचार को सदाचार में पलट सकता है, कर्त्तव्यों को अधिकार में परिणत कर सकता है, तो अवश्य यह वाञ्छनीय है। इस प्रकार के तर्क-वितर्क जब शिक्षित महिला के मन में उठे, तो उसके जीवन का एक ही लक्ष्य बन गया—और वह था किसी-न-किसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से पुरुष से स्वतन्त्र हो जाना, अपने आप पैसा कमाना या कम-से-कम अपने अन्दर पैसा कमाने की योग्यता प्राप्त कर लेना। इस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन बन गई—'शिक्षा'। स्त्री शिक्षा द्वारा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहती थी। स्त्री शिक्षा का लक्ष्य अब विवाह सम्बन्धी समस्या हल करना न रह कर स्वतन्त्रा की प्राप्ति बन गया। दोनों लक्ष्यों में कितना भारी अन्तर था। एक से प्रेरित होकर कन्या अभीष्ट वर की प्राप्ति में ही अपनी शिक्षा का अन्त समझ लेती थी, किन्तु दूसरे की प्रेरणा से वह विवाह के नाम से ही घृणा करने लगी, वैवाहिक जीवन से ही उसे नफ़रत हो गई, क्योंकि यह जीवन उसे अपने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य पर आघात जान पड़ता था।

स्त्री ने सोचा था कि यदि वह धनोपार्जन करने लगेगी और अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी करने लगेगी, तो उनके दुःखों का अन्त हो जायेगा, उसको मनुष्यता के सब अधिकार प्राप्त हो जायेंगे, वह स्वतन्त्रता जिसकी वह भूखी थी स्वयं उसको मिल जायेगी। आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर उसने अपने जीवन के हर क्षेत्र में स्वतन्त्र होने की

आशा की थी, अपने को शिक्षा तथा धन से सम्मानित करके पुरुष का सम्मान प्राप्त करने का स्वप्न देखा था। किन्तु उसकी आशा पूरी न हुई, उसका स्वप्न स्वप्न ही रहा! इतना सब कुछ होने पर भी स्त्री देख रही है कि उसने पुरुष जैसी शिक्षा चाहे क्यों न प्राप्त कर ली हो, वह पुरुष के समान धनोपार्जन चाहे क्यों न करने लगी हो, किन्तु फिर भी वह स्त्री ही है। आज भी पिता के लिये 'पराये घर का धन' है, पति के लिये उसकी आँखों के इशारे पर नाचने वाली पत्नी है; पुत्र के लिये उसके सहारे रहने वाली वृद्धा माता है। वह शिक्षिता है तो क्या! समाज की आँखों में आज भी वह परतन्त्रता में ही पनपने वाली अबला है, घर के अन्दर पति की इच्छा पालन करने वाली कठपुतली और बच्चों का लालन-पालन करने वाली परिचारिका है। मनु के वह वाक्य 'स्त्री स्वातन्त्र्यं नार्हति' आज भी सजीव होकर उसके कानों में गूँज रहे हैं, जीवन के हर क्षेत्र में वह इन्हीं की छाप देख रही है। ऐसी अवस्था में उसे अपने ध्येय की प्राप्ति का केवल एक मार्ग दीखता है और वह है—स्त्रीत्व को ही अपने अन्दर से नष्ट कर देना! वर्तमान समय में शिक्षिता नारी स्वतन्त्र होने के लिये उत्सुक हो रही है। स्त्रीत्व उसके मार्ग में एक रुकावट है, विघ्न है। इस लिये अपनी स्वतन्त्रता की खातिर आज वह अपने स्त्रीत्व को मिटा देगी, स्वतन्त्रता की वेदी पर आज वह स्त्रीत्व को बलिदान कर देगी, किन्तु संसार की आँखों में नीची बन कर न रहेगी— यही आज की शिक्षिता नारी का सङ्कल्प दिखाई देता है। स्त्री

के जीवन का लक्ष्य बहुत अंशों तक उसकी शिक्षा का लक्ष्य भी रहा है और आज भी वही उसकी शिक्षा का उद्देश्य है। अब आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य नहीं रहा, जैसा कि अब से कुछ वर्षों से पूर्व था। अब तो पुरुष के बराबर हो जाना, हर क्षेत्र में पुरुष की बराबरी करना स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य बन गया है।

आज शिक्षिता स्त्री के हृदय में क्या विचार उठ रहे हैं? वह सोचती है—घर के अन्दर रह कर, कोल्हू के बैल की तरह पिस कर उसके क्या हाथ आया—अपमान और पराधीनता! जिस घर में रह कर उसे आत्मसम्मान और आज़ादी से हाथ धोना पड़ा हो उसका कार्यक्षेत्र अब उस घर में नहीं, उस घर से बाहर होगा। उसका कार्यक्षेत्र अदालतों, दफ्तरों, कारखानों और सिनेमाघरों में होगा—पुरुष का कार्यक्षेत्र ही उसका कार्यक्षेत्र होगा। जब स्त्री के अन्दर मनुष्यता से दिव्यता की ओर ले जाने वाले गुण मौजूद थे तब उसकी गिनती मनुष्यों से नीचे होती थी, अब जब कि स्त्री ने पुरुष की श्रेणी में बैठने की शपथ ले ली है तब क्या उसे उन दिव्य गुणों को ठुकरा न देना पड़ेगा। शिक्षिता स्त्री की दृष्टि में अपने गुणों की अपेक्षा पुरुष के अवगुण अधिक अच्छे हैं, मानवीयता को चकित कर देने वाले स्त्रीत्व की विशेषताओं की अपेक्षा पुरुष की निर्बलतायें अधिक प्राह्य हैं। उसके लिये 'स्त्रीत्व' और 'दासत्व' दोनों समानार्थक वस्तु हैं। इसलिये स्त्रीत्व के चिन्ह उसके दासत्व के चिन्ह हैं। वह उन सब चिन्हों को मिटा देना चाहती है, जिन्हें वह मिटा सकती है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी की नारी की वेष-भूषा, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद के तरीके

सब पुरुष जैसे होते जा रहे हैं। वह स्त्रीत्व को मिटाने और पुरुषत्व को अपनाने में बहुत अंशों तक सफल हो रही हैं। स्त्रीत्व को खो कर भी वह समाज में पुरुष के बराबर स्थान प्राप्त कर सकेगी या नहीं, जिस स्वतन्त्रता की वह भूखी है वह मिल सकेगी या नहीं—यह अभी भविष्य के गर्भ में है।

थोड़े से समय के अन्दर, हमने देखा कि स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य ने अनेकों रूप बदले। यह भी देखा कि इन परिवर्तनों को लाने, इन उद्देश्यों को ढालने में पुरुष का कितना अधिक हाथ रहा है। वास्तव में स्त्री-शिक्षा को अपने अन्तिम उद्देश्य तक पहुँचाने की पूरी जिम्मेदारी ही पुरुष पर है। स्त्रीत्व को मिटा देने का संकल्प, जो इस समय स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य बन गया है, सदियों से स्त्री पर पुरुष द्वारा किये गये अत्याचारों का परिणाम है।

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी क्या शिक्षिता बहिनें अपने अन्तिम सङ्कल्प की पूर्ति करने से पूर्व इस प्रश्न पर एक बार विचार करेंगी? यदि स्त्रीत्व संसार से लुप्त हो गया तो समाज की हानि होगी या लाभ? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इससे समाज तथा विश्व का कल्याण नहीं हो सकता। स्त्रीत्व विश्व की अमूल्य विभूति है। स्त्रीत्व के नष्ट होने से एक दिव्य विभूति का संसार से लोप हो जायगा। स्त्रीत्व के लोप होने पर प्रेम, दया, श्रद्धा तथा सहिष्णुता—जो स्त्रीत्व की विशेषताएँ हैं—संसार से मिट जाएँगी। स्त्रीत्व के मिटाने के साथ ही मातृत्व तथा उसके अनेक आशीर्वादों से संसार वंचित रह जायेगा। ऐसी दशा में विश्व में स्त्रीत्व का अभाव कल्याण-प्रद होगा या हानिप्रद यह शिक्षिता बहिनें स्वयं विचार कर लें।

आत्म-चरित

(श्री कुँवर राजेन्द्रसिंह)

जीवन-चरित्र लिखना कोई मामूली कला नहीं है, और आत्म-चरित लिखना तो लोहे के चने चबाना है। आत्म-चरित्र के लिखने की प्रथा इँग्लैंड में १८ वीं शताब्दी के अन्त के कुछ पहले प्रारम्भ हुई थी। पहले दफे 'आटोवाय-ग्राफ़ी' (स्वलिखित जीवन-चरित) शब्द का प्रयोग अँगरेज़ी-भाषा में सन् १८०६ में हुआ था। इसके पहले ऐसे लेखों को 'जीवन-वृत्तान्त स्वयं लेखक-द्वारा लिखित' अथवा 'लेख', 'जीवन-चरित स्वयं जिसे नायक ने लिखा हो', 'स्वयं लिखित इतिहास' इत्यादि कहते थे। केवल १६ वीं शताब्दी से यह माना गया कि इतिहास से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्म-चरित्र के ढंग पर वहाँ सन ७३१ में कुछ लिखा गया था, और फिर सन् १५७३ तक इस ओर कोई उद्योग नहीं हुआ।

आत्म-चरित के लिखने में हर क़दम पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और ऐसी कठिनाइयाँ नहीं हैं जिन पर आसानी से विजय प्राप्त हो सके। पहला प्रश्न तो लिखने वाले के सामने यह होता है कि अपने विषय में क्या लिखे और क्या छोड़दे। मनुष्य गुणों और अवगुणों का सम्मि-श्रण है। यह असम्भव है कि किसी में कोई गुण न हो या

किसी में कोई अवगुण न हो। यह बर्क का कथन है कि 'किसी की त्रुटियों के कारण उससे झगड़ा करना ईश्वर की शिल्प-कला पर आक्षेप करना है।' स्टीवेंसन की भी एक कविता का ऐसा ही आशय है। उसने कहा है कि 'हम लोगों में जो बुरे से बुरे हैं उनमें भी इतनी अच्छाइयाँ हैं और जो हममें अच्छे से अच्छे हैं उनमें भी इतनी बुराइयाँ है कि हममें से किसी के लिए यह उचित नहीं है कि अन्य सभों के खिलाफ़ कहें।' यदि लिखनेवाला अपने गुणों का उल्लेख करे तो यह कहा जायगा कि आत्मप्रशंसा का गीत अलाप रहा है और यदि चुप हो जाय तो तुला एकांगी रहेगी और लेखन-कला दोष-युक्त होगी। जीवन चरित का चाहे वह स्वलिखित हो या किसी दूसरे के द्वारा लिखा गया हो, मुख्य उद्देश्य यह है कि चरित-नायक अपने स्वाभाविक स्वरूप में पढ़ने वालों के सामने आ जाय। यदि जीवन-चरित में केवल उसके गुणों का ही उल्लेख किया जायगा तो शायद ईश्वर को लोग भूल जायँगे और यदि उसी तरह गुणों को छिपाकर केवल अवगुणों की ही सूची दे दी जायगी तो उसमें और शैतान में क्या फ़र्क़ रह जायगा।

दूसरी कठिनाइयाँ यह होती हैं कि आत्म-चरित में छोटी छोटी घटनाओं का उल्लेख छूट जाता है। यह नहीं है कि लेखक उन्हें नहीं लिखना चाहता है, किन्तु कारण यह होता है कि उसकी दृष्टि में उन घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं होता। वास्तव में छोटी ही घटनाओं से चरितनायक के असली स्वरूप के पहचानने में सहायता मिलती है, जैसे तिनका हवा

के रुख को बतला देता है। किसी के भी जीवन में सब बड़ी ही घटनायें नहीं घटित होती हैं—छोटी और बड़ी घटनाओं के सम्मिलित समूह का नाम जीवन है। हाँ, इस पर अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि ऐसी बातें न लिखी जायँ जो मामूली से भी मामूली हों। वे बातें आत्म-चरित्र में स्थान पाने के योग्य नहीं हैं जिनमें स्वाभाविकता न हो चरित-नायक की वैसी तसवीर होनी चाहिये जैसा वह है न कि जैसा आज-कल का फोटो होता है कि सिर को तोड़-मरोड़ कर, ठुड्ढी को आगे या पीछे दबाकर, एक अस्वाभाविक ढंग कर दिया जाता है। वह फोटो किसी का असली फोटो नहीं कहला सकता है। धोबिन दूती एक नायिका से कह रही है —"औचक ही हँसि आनन फेरि बड़े बड़े नयनन तानि निहार्‌यो।" इसे स्वाभाविकता कहते हैं। तभी तो निशाना पूरा बैठा। यदि जीवन-चरित लिखनेवाला स्वयं चरित-नायक है तो उसके कामों की स्वाभाविकता उसे नहीं प्रतीत होती है और यदि प्रतीत हुई तो स्वाभाविकता नहीं रह जाती। उपर्युक्त पद पर ध्यान देने से मालूम होता है कि औचक सिर घुमाकर देखने की स्वाभाविकता दूती को प्रतीत हुई और यदि नायिका ने यह सोचकर सिर घुमाया होता कि जो इधर से जा रहा है उस पर सोचा हुआ प्रभाव पड़े तो, स्वाभाविकता विदा हो गई होती। अगर उससे यह न कहा गया होता कि उसके औचक सिर घुमाकर देखने का किसी पर यह प्रभाव पड़ा तो उसे मालूम भी न होता कि क्या हुआ था।

यहीं कठिनाइयों का अन्त नहीं हो जाता है। इसका

निर्णय करना क्या कोई सहज काम है कि जीवन की किन किन घटनाओं का किस तरह उल्लेख किया जाय या तो यह हो जायगा कि "निज कवित्त केहि लाग न नोका, सरस होय अथवा अति फीका" या उन घटनाओं का जिक्र भी नहीं होगा जो दूसरों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण समझो जा सकती हैं। जीवन-चरित एक तरह का स्मरण-लेख नहीं है "मैं मेल-ट्रेन से घर वापस गया। गर्मी बहुत थो पंखा और खस की टट्टी होने पर भी पसीना निकल रहा था और मैं घंटों चित पड़ा रहा।" यह क्या है? वास्तव में यह किसी भी दृष्टि से कुछ नहीं है। ऐसे स्मरण-लेखों के प्रकाशित होने से किसी का क्या लाभ हो सकता है—किसी और का लाभ तो दूर रहा अपना ही, क्या लाभ हो सकता है? इस तरह के लेख का मूल्य उस कागज़ के मूल्य से भी कम होगा जिस पर यह लिखा गया होगा। प्रत्येक आत्म-चरित जो आत्म-चरित कहला सकता है, इतिहास का भी काम देता है। कम से कम यह तो पता चल ही जायगा कि अमुक व्यक्ति के सामने कैसे धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रश्न उपस्थित थे और उन पर उसके क्या विचार थे। यदि उन विचारों पर लेखक ने कोई राय नहीं प्रकट की तो एक बहुत बड़ी कमी रह जायगी। समय बदल रहा है और स्वभावतः उसी के साथ दृष्टिकोण बदल रहा है। नहीं तो भारतवासियों को अपने सम्बन्ध में एक शब्द भी लिखना नहीं पसन्द था और उसी का कारण यह है कि हमारे साहित्य की वह शाखा अपूर्ण रह गई है। जिसकी पूर्ति केवल आत्म-चरितों से ही हो सकती है।

अपने सम्बन्ध के कुछ ऐसे विषय हैं जो अपने लिखने से मनोरंजक नहीं होंगे, जैसे विवाह। यदि तुलसीदास जी की लेखनी महाराज रामचन्द्र के हाथ में होती तो शायद वे यह न लिख पाते कि "कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि, कहत लषण सों राम हृदय गुनि। मानहु मदन दुंदभि दीन्ही, मनसा विजय विश्व कह कीन्हीं।" उन देशों में जहाँ पर्दे की प्रथा नहीं है, वहाँ विवाह के पहलेवाले समय को आनन्द और विलास का समय मानते हैं। एक की मँगनी हुए बहुत दिन हो गये थे। मित्रों ने पूछा कि कहो, कब शादी होगी। उसने उत्तर दिया कि यही सोच रहा हूँ कि अभी तो यहाँ आकर दिल खुश कर लेता हूँ और शादी हो जाने पर कहाँ जाया करूँगा। इन वाक्यों से वहाँ के समाज के संगठन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मायकेल फ़रेडो (बिजली के आविष्कारकर्ता) के एक जीवन चरित लिखने वाले को यह बड़ा दुख रहा कि उसके हाथ वह मसाला न आया जिससे उनके वैवाहिक जीवन के पूर्ववाले समय के क़िस्से गढ़ने का मौक़ा मिलता। जिस जीवन चरित में ऐसे किस्सों या रोचक घटनाओं की कमी रहती है उसकी जनता में माँग नहीं होती है। शायद इसी वजह से एक अँगरेज़ लेखक ने लिखा है कि सत्यता से कहीं अधिक अर्द्ध सत्यता मनोहारी होती है। अर्द्ध सत्यता की चाट जिनमें होती है वही पुस्तकें आज-कल हाथोंहाथ बिकती हैं, और जिन पुस्तकों में हृदयगत भाव सच्चे और सीधी तरह से प्रकट कर दिये गये होते हैं वे पुस्तकें छापनेवालों को दृष्टि से अच्छी बिकने वाली नहीं कहलाती हैं। कम से कम

आत्म चरित लिखनेवालों को अपने पथ से नहीं हटना चाहिए, यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि "वह न कहो जो तुम्हें कहना है, वरना वह कहो जो लोग सुनना पसन्द करते हों।"

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी मनुष्य को अपना आत्मचरित लिखना चाहिए। यदि इसके लिखने में सावधानी से काम लिया जाय तो लोगों का इससे बड़ा उपकार होता है—आँखें खुल जाती हैं। "पहले से सचेत हो जाना सशस्त्र हो जाना है," जैसा कि अँगरेज़ी में एक कहावत है। निज जीवन वृत्तान्त कहने में साहित्यिक कला की बड़ी आवश्यकता नहीं होती। यह तो बहुत अच्छा है ही कि साहित्य भी स्वादु हो, परन्तु यदि न हो तो कुछ हर्ज भी नहीं है। किसी भी चीज पर वार्निश करने से उसका प्राकृतिक रंग जाता रहता है। यह प्रायः देखा गया है कि सीधे और सादे ढङ्ग से कहा हुआ अनुभव अधिक प्रभावशाली होता है बाज़ों का यह कहना है कि आत्मचरित मनोरंजक नहीं होते। बात यह है कि जैसा जिसका दृष्टि-कोण होगा उसको उसी ढङ्ग का साहित्य पसन्द होगा और उसी से उसका मनोरंजन होगा। 'मनोरंजन' उन शब्दों में से एक है जिसका अर्थ प्रत्येक मनुष्य अपने इच्छा-नुकूल समझता हैं। यदि एक चीज़ एक मनोरंजक मालूम होती है तो उसीसे दूसरे का कोई मनोरंजन नहीं होता। आत्मचरित का क्या दोष है ? यह सम्भव है कि उसके लिखने में योग्यता से काम न लिया गया हो, महत्वपूर्ण घटनायें छूट गई हों, मामूली बातों का सविस्तार वर्णन हो गया हो, स्वाभाविकता

का अभाव हो या चरितनायक उस रंग में रंगा दिखाई दे जो उसका प्राकृतिक रङ्ग न हो। नहीं तो आत्मचरितों से पढ़ने वालों का बड़ा मनोरंजन होता है। यह एक मसल मशहूर है कि जीवन एक नाटक है और इसकी सत्यता आत्मचरित पढ़ने से ही मालूम होती है। जीवन के नाटक में कल्पना की आवश्यकता नहीं होती—केवल आवश्यकता होती है सीधे-सादे वर्णन की, पर्दे खुद उठते और गिरते जाते हैं। उन लोगों की भी संख्या कम नहीं है जिनका यह विचार है कि उन लोगों की अपेक्षा जो 'लक्ष्मी के पुत्र' कहलाते हैं, उनका जीवनचरित अधिक शिक्षाप्रद और मनोरंजक होता है जिन्हें दुनिया का मुक़ाबिला करना पड़ा है। अच्छे दिन बुराइयों को प्रकट कर देते हैं और बुरे दिन अच्छाइयों को। मनुष्य चाहे जैसा हो—चाहे लक्ष्मी का पुत्र हो या शत्रु हो, चाहे चरित्रवान् हो या महान् चरित्रभ्रष्ट हो, उसे अपना आत्मचरित अवश्य लिखना चाहिए। सम्भव है कि जिस अनादर की दृष्टि से वह आज देखा जा रहा है उस दृष्टि से वह कुछ समय के बाद न देखा जाय, यदि उसे अपने पक्ष में कुछ कहने का मौका मिले। इन सब बातों के कहने का उचित स्थान आत्मचरित ही है। इससे क्या यह सम्भव नहीं है कि यदि उनकी भी सुन ली जाती जिन पर दोषारोपण किये गये थे तो उनके विषय में हमारी राय में परिवर्तन हो जाता। निर्णय हम चाहे जो करते, पर वह निर्णय अधिक ठीक होता।

अब यह प्रश्न सामने आता है कि स्वलिखित जीवन-चरित का क्या ढङ्ग हो जैसे हर एक आदमी की बातें करने

और अपने भावों को प्रकट करने का ढङ्ग पृथक् २ होता है, वैसे ही आत्मचरित लिखने का भी होता है। उद्देश्य एक ही है और वह यह कि जो हम कहा चाहते हैं वह अच्छी तरह कह डालें किसी लेखक का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि सुनने या पढ़ने वालों के लिये यह असम्भव हो जाय कि वह सिवा उन अर्थों के कोई और अर्थ न लगा सकें जो लिखने वाले या बोलने वाले के हैं। मनुष्य के छोटे से छोटे काम म भी उसकी आत्मा की झलक दिखाई देती है और वही झलक आत्मचरित का आधार है और उसी से चरित-नायक का भी पता चलता है। बहुत आदमियों को यदि दिल खोलने का मौक़ा दिया जाय तो मालूम होगा कि बाहरी रुखाई के पर्दे के पीछे कितना कोमल हृदय है। उन अवसरों पर जब हम सावधान है तब भी हम में स्वाभाविकता की कमी रहती है और उस समय के कामों से भी हमारा पूरा पता नहीं चलता है। एक फ़ारस देशवासी अरबी भाषा का इतना बड़ा विद्वान् था कि पहचाना नहीं जा सकता था कि वह अन्य देश का रहने वाला है। वह अरब देश में गया और अपना ऐसा भेष बनाया कि वहाँ के निवासी उसे अपने देश का समझने लगे। बड़ो २ पुस्तकें लिखीं अपनी शादी की और वहीं बस गया। उसको पत्नी भी विदुषी थी। उसे न मालूम किस तरह यह सन्देह हुआ कि अरब देश उसी की मातृभूमि नहीं है, परन्तु उसके सन्देह को परिपुष्टता नहीं प्राप्त होती थी। उसकी भाषा और वेष में कोई त्रुटि नहीं थी। बहुत दिनों के बाद जब एक रात को वह सो रहा था

तब उसकी आँखों पर फतीले की रोशनी पड़ रही थी। वह सोते हुए चिल्ला उठा कि फतीले का वध कर डालो, (यह शायद फ़ारसी का मुहाविरा था—अरब देश में फतीला बुझा दो कहा जाता था) उसकी स्त्री समझ गई कि उसकी मातृ-भाषा कौन है। पूछने पर उसने बतला भी दिया। वह उसका स्वाभाविक क्षण था जब उसके मुँह से उसकी मातृभाषा का मुहाविरा निकल गया। ऐसे ही मौक़ों पर यह पता लगता है कि हम क्या हैं और ये अवसर इतने क्षणिक होते हैं कि हम उन्हें 'पकड़' नहीं पाते। इनकी आत्मचरितों में कमी होती है। जहाँ यह सत्य है कि बोज़वेल ने जान्सन के जीवनचरित में बहुत सी अनावश्यक बातें लिखी हैं, वहाँ यह भी सत्य है कि बहुत सी ऐसी बातें भी लिखी हैं जिनकी वजह से वास्तविक जान्सन का फोटो आँखों के सामने आजाता है। यदि जान्सन स्वयं लिखते तो वे बातें छूट जातीं।

अपना आत्मचरित लिखने में मधुर एकान्त की अत्यन्त आवश्यकता होती है। तभी उन कामों और घटनाओं का स्मरण आयेगा जिनके कहने या करने में स्वाभाविकता के कारण सफलता असफलता प्राप्त हुई थी। एक चरित्रभ्रष्टा अपनी जवानी के दिनों का स्मरण कर के गुनगुना रही है, "हज़ारों ही खाये हुए चोट थे, वह ठुमके से मिरज़ा तो बस लोट थे।" बस इन्हीं दस-पाँच शब्दों में पूर्ण आत्मचरित लिखा गया—पूरी तसवीर आँखों के सामने आ गई। व्यतीत समय का सिंहावलोकन ऐसे अवसरों पर बहुत काम देता है। परन्तु इसका ध्यान रहे कि निरीक्षण और निर्णय करने में

कृत्रिम रङ्ग न आने पावे—केवल इतना प्रकट कर देना पर्याप्त होगा कि अमुक विषय पर विचार क्या थे।

आत्मचरित के लिखने के तीन तरीके हो सकते हैं, और अभी तक यही तीन तरीके काम में लाये गये हैं। पहला वही पुराना साधारण तरीक़ा, जिसका 'श्रीगणेशाय नमः' जन्म-तिथि बतला कर होता है और 'इति श्री' दूसरे के हाथों द्वारा अन्तिम बीमारी का वर्णन कर के मृत्यु-तिथि पर होती है। इस में भी संशोधन हो रहा है। अब केवल साल बतला दिया जाता है। अब कोई भी शायद ही जीवनचरित हो जिस में अन्तिम बीमारी का वर्णन हो। किसी को इससे क्या मतलब कि कौन सी अन्तिम बीमारी किसको हुई थी? इतिहास के लिये साल जानना पर्याप्त है।

दूसरा तरीक़ा स्मरण-लेख है। यह प्रथम तरीक़े से कुछ आसान है। इसमें स्वाभाविकता की अधिक सम्भावना है। इसमें दिनचर्य्या सीधी और सरल भाषा में लिखी होती है। पेपी की डायरी कई भागों में प्रकाशित हुई है और वह उनके पूर्ण जीवन चरित का काम देती है। उसमें बहुत सी बातें यद्यपि असङ्गत सी मालूम होती हैं। पर अधिकांश में स्वाभाविकता अवश्य है। शायद उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि मामूली से मामूली बातों का भी वे उल्लेख करेंगे। स्मरण लेख यदि इस दृष्टि से लिखा गया है कि वह प्रकाशित किया जाय तो उसमें भी बहुत सी बातों पर कृत्रिम रङ्ग होगा। स्वाभाविक ढङ्ग तो वह है जिस ढङ्ग से मनुष्य कुछ सोचता है। चाहे कुछ लिखने में अत्युक्ति की झलक आ भी जाय तो भी अपने अनु-

भवों का उल्लेख करना चाहिये। अनुभवों में बड़ी शिक्षा मिलती हैं—अनुभव ही सच्चे शिक्षक हैं—चाहे वे सरलता के परमोच्च शिखर के हों और चाहे अधमता की अथाह गहराई के हों। दोनों से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। यदि इस देश के किसी बड़े-से-बड़े आदमी से भी कहा जाय कि आप अपना आत्मचरित लिख दें तो शायद यही कहेगा कि किया क्या है जिसका उल्लेख करूँ। इस संकोच से कम-से-कम उसके देश-वाले उसके अनुभवों से वंचित रह जाते हैं। अन्य देशों में नटियाँ और नर्तकियाँ भी अपना जीवन-चरित लिखती हैं या स्मरण लेख रखती हैं। यद्यपि उद्देश्य जेब गरम करने का होता है तो भी उनको अपने विषय में जो कुछ कहना होता है वह तो कह ही लेती हैं।

तीसरा साधन आत्मचरित का पत्र है। इनके लिए 'द्वितीय पुरुष' की आवश्यकता होती है। इनमें भी तभी स्वाभा-विकता आवेगी जब इनका अभिप्राय प्रकाशित करने का न हो। यद्यपि इनमें नित्यप्रति की घटनाओं का उल्लेख नहीं होता है, तो भी इनसे अच्छी तरह और किसी ढङ्ग से लेखक का मत प्रकट नहीं हो पाता। अँगरेज़ी भाषा में सुप्रसिद्ध पत्र लेखक हो गये हैं और सबसे बड़ा नाम चेस्टरफ़ील्ड का है। उन्होंने अपने पुत्र के नाम पत्र लिखे थे और उनमें अच्छे उपदेश दिये हैं। ये गुण होते हुए भी वे वास्तव में पत्र नहीं हैं। वही नक़ल बहुतों ने की है। एक ने तो अपने पुत्र को पत्र लिखने में लज्जा को तिलांजलि देकर यह लिखा है कि उसका जीवन उसकी स्त्री के साथ कैसा व्यतीत

हुआ था। ऐसी पुस्तकें मृतजात-शिशु के समान होती हैं। अस्तु, आज-कल उन्हीं जीवनचरितों की धूम होती है जिनमें चरितनायक के स्मरण लेखों और पत्रों से बातें जानकर लिखी जाती हैं। राजनैतिक क्षेत्र में जो कुछ भी है उन सबके पत्र प्रकाशित होते हैं। वे भी वास्तव में पत्र नहीं हैं। उनके लिखने का यह अभिप्राय होता है कि वे अपने मत का स्वतंत्रता से पक्षपात कर सकें। तब भी वे पत्र ही कहला सकते हैं, चाहे लेखक के प्रतिबिम्ब न हों। उनके आधार पर जीवन-चरित लिखा जा सकता है।

एक और ढङ्ग है, जिसके द्वारा मनुष्य असली रंग में दिखलाई दे सकता है और वह है वार्तालाप का। इससे मनुष्य के निजी और अदृष्ट जीवन पर से थोड़ा पर्दा हटाया जा सकता है। ऐसे वार्तालाप के लिए यह आवश्यक है कि वह उन्हीं के साथ हो जिनके सामने बातें करनेवाला स्वतन्त्र हो। जान्सन के आन्तरिक जीवन का संसार को पता न होता यदि बोज़वेल की लेखनी ने उनकी इतनी सहायता न की होती। जान्सन बहुत मशहूर बात-चीत करने वाले थे और कोई शब्द शायद ही उनके मुँह से ऐसा निकला होगा जिसे बोज़वेल ने उनके जीवनचरित में न लिखा हो। न हर आदमी जान्सन हो सकता है और न उसका यह सौभाग्य हो सकता है कि उसे बोज़वेल मिल जाय। अपने वार्तालाप से अपने को अपना जीवनचरित लिखने में बहुत सहायता नहीं मिलती है। यदि जान्सन खुद अपना जीवनचरित लिखने बैठते तो अपने वार्तालाप से उतना फ़ायदा न उठा पाते जितना बोज़वेल ने

उठाया है ; हैज़लिट भी बड़ा क़ाबिल बात-चीत करने वाला था। उसका यह बड़ा अभाग्य है कि उसके वार्तालाप का कोई भी अंश संसार के सामने नहीं है। उसे उसकी ज़िन्दगी में क्या, अभी तक कोई ठीक नहीं समझ पाया है। यदि उसका वार्तालाप प्रकाशित हो जाता तो उसके सम्बन्ध में संसार की दूसरी राय होती। उसने खूब कहा है कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि संसार के मञ्च को छोड़ते ही लोग हमें भुला देते हैं, और तब भी हम किसी के ध्यान को आकर्षित नहीं करते हैं जब मञ्च पर होते हैं।

अपने जीवन के वृत्तान्त और अनुभवों को हमें सीधे-सादे और स्वाभाविक रीति से वर्णन कर देना चाहिए। आलिवर गोल्डस्मिथ ने लिखा है कि इसका ध्यान रखना चाहिए कि यथार्थतायें विद्वत्ता के बोझ से दब न जायँ। हम सबको अपने इस कठिन कार्य में सफल समझना चाहिए, यदि एक व्यक्ति का भी ग़लत रास्ते पर पैर पड़ने से बच जाय और इसी तरह कुछ न कुछ अपने साहित्य की सेवा हो जाय। एक दफ़े स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले ने एक दूसरे सम्बन्ध में कहा था कि 'वे लोग थोड़े दिनों बाद आवेंगे जो सफलता से देश की सेवा करेंगे। हम सबको तो अपनी असफलताओं से ही सेवा करना है।'

प्राचीन काल के अन्तःपुर

(श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी)

सन् ईसवी के आस-पास भारतवर्ष की नागरिक सभ्यता काफी समृद्ध हो गई थी। इन दिनों भारतवर्ष का व्यवसाय-वाणिज्य संसार के अन्यान्य समृद्ध देशों के साथ खूब चल पड़ा था। देश में संपत्ति की प्रचुरता थी और उसके फल-स्वरूप नागरिकों में काफ़ी विलासिता बढ़ गई थी। तात्कालिक काव्यों, नाटकों और कथा-काव्यों में समृद्धि का परिचय पाया जाता है। उस युग के साहित्य को समझने के लिये नागरिकों की रहन-सहन का जानना नितान्त आवश्यक है। यहाँ उस युग के अन्तःपुर का परिचय देने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस परिचय में यथासम्भव कोई भी बात अपनी ओर से न कही जायगी। सब कुछ उस युग के ग्रन्थों के आधार पर कहने की कोशिश की जायगी।

सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी में वात्स्यायन ने काम-सूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, क्योंकि काव्यों या नाटकों की तरह इसमें केवल आदर्श-चरित्रों की कल्पना नहीं की गई है, बल्कि उस युग की वास्तविक परिस्थिति ही इसमें बताई गई है। वात्स्यायन का आदर्श नागरिक-जीवन है। नगर में रहने वाली सुसंस्कृत

कला-प्रेमी पुरुषों को वात्स्यायन ने 'नागर' या 'नागरक' कहा है। इन नागरकों के गृह बड़े ठाट-बाट के हुआ करते थे। प्रत्येक गृह के दो हिस्से हुआ करते थे। भीतर के जनाना महलों को अन्तःपुर कहते थे और बाहर स्वयं 'नागरक' के रहने का मर्दाना बैठक-घर हुआ करता था। यहाँ नागरक अपने काम-काज देखा करता था और मित्रों और मिलने वालों से मिला करता था। काम-सूत्र में नागरक के सुसज्जित बैठक खाने का बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। परन्तु आज हम इस बैठक-खाने की बात नहीं करेंगे।

अन्तःपुर से लगा हुआ सामने की ओर एक बाग हुआ करता था इसे वात्स्यायन ने 'वृक्ष वाटिका' कहा है। ईसा की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने बृहत्संहिता नाम की जो पुस्तक लिखी है उससे ज्ञात पड़ता है कि इन बगीचों के पुरोभाग में और वास-गृह के सामने अरिष्ट, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियङ्गु के वृक्ष लगाये जाते थे। ये वृक्ष मांगल्य समझे जाते थे। इन बगीचों के बीच में कूप खोदे जाते थे और अगर जगह ज्यादा होती थी तो वापी भी खोदी जाती थी। गृह-स्वामिनी का यह कर्तव्य होता था कि वे वृक्षों की देख रेख करें। चतुर गृहिणियाँ इन बगीचों में साग-भाजी की खेती भी कर लेती थीं। वात्स्यायन ने इन साग-भाजियों की एक लम्बी फेहरिस्त दी है। पाठक पाठिकाएँ यह सुन कर प्रसन्न होंगी कि उन दिनों की साग-भाजी भी प्रायः वही है जो आजकल हम लोग पसन्द करते हैं। मूली, आलुक, पालँग, (पलङ्की) दमनक (पुष्प विशेष), आम्रातक (आमड़ा),

पर्वासक (सुथनी), त्रपुस (खीरा), वर्ताक (बैङ्गन) कुष्मांड (सफेद कुम्हड़ा), अलाबु (लौकी), सूरण, शुक-नाशा (टेंढू), स्वयंगुप्ता, तिलपर्णिक (?), अग्निमन्थ (?), लशुन, पलाण्डु (प्याज), इत्यादि साग-भाजी हमारे निकट अब भी ज्यों की त्यों हैं। यही नहीं, ईख, नींबू, जम्बीर, सरसों, अजवायन, सौंफ आदि उपयोगी चीजें भी गृहिणियाँ उपजा लिया करती थीं। नाना जाति के सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों के लिये तो ये बगीचे हुआ करते थे। फूलों और शाद्वलों की नयनाभिराम क्यारियाँ गृह-स्वामिनी के विशेष यत्न और आदर की चीज़ हुआ करती थीं। फूलों में जाती, मल्लिका, नवमालिका आदि गन्ध प्रधान पुष्पों के साथ जपा, कुरण्टक आदि गन्धहीन दर्शनीय पुष्प भी हुआ करते थे। साथ ही बालक, उशीर (खश) आदि सुगन्धित पत्र वाले पौधे भी लगाये जाते थे। इन वाटिकाओं में स्थान-स्थान पर बैठने की जगहें हुआ करती थीं, जहाँ अंतःपुरिकायें आकर सुबह-शाम बैठा करती थीं। जगह-जगह झूले भी लगे रहते थे। राजा-महाराजाओं और धनी-मानी गृहों की वृक्ष-वाटिकाओं में नकली पहाड़, झील आदि भी बने रहते थे। चाँदनी का आनन्द उपभोग करने के लिये कौमुदी-गृह हुआ करते थे।

अल्प वित्त की स्त्रियाँ प्रायः इन धनी आदमियों के घर उद्यान-क्रीड़ा के लिये जाया करती थीं। इस प्रकार इन बहु व्यय-साध्य विलास-सामग्रियों का उपभोग साधारण जनता भी कुछ न कुछ कर लिया करती थी।

वाटिका से संलग्न अन्तःपुर में बाहर का कोई आदमी प्रवेश नहीं कर पाता था । नागरक के बाहरी बैठकखाने में जिस प्रकार सब प्रकार के आदमियों की भीड़ लगी रहती थी उस प्रकार गृह-स्वामिनी के यहाँ भीड़ नहीं होती थी । भास के 'चारुदत्त' नाटक की नायिका वसन्तसेना इस बात के लिये अपने को अभागिनी समझती है कि वह चारुदत्त के अन्तःपुर में नहीं जा सकती । 'कादम्बरी' में बाहरी बैठकखाना और भीतरी अन्तःपुर का एक स्थान पर वर्णन किया गया है इससे उस युग के बाहरी और भीतरी महल का विरोध स्पष्ट ही समझ में आ जायगा ।

"इस प्रकार चन्द्रापीड़ ने सात कक्षाएँ अतिक्रमण करने के बाद हंस के समान धवलवर्ण शय्या पर आसीन पिता को देखा । शरीर-रक्षा कार्य में नियुक्त कई आदमी उन्हें घेरे खड़े थे । सदा अस्त्र धारण करने के कारण इन आदमियों की हथेली में घट्टा पड़ गया था और हाथ, पैर आँखों को छोड़ कर बाकी शरीर काले लोहे वर्म से आच्छादित था और नौकर राजा के दोनों ओर अविश्रान्त भाव से चामर झुला रहे थे ।......

इसके बाद चन्द्रापीड़ अन्तःपुर में माता के पास पहुँचे । क्षीरोद सागर के महातरङ्ग जिस प्रकार लक्ष्मीदेवी को एक समय परिवेष्टित किये हुए थे, उसी प्रकार शुभ्रवर्ण कञ्चुक से ढके हुए, निर्दोष स्वभाव बहुसंख्यक कञ्चुकी महारानी विलासवती को घेरे थे । अत्यन्त सौम्यमूर्ति कषाय-वस्त्र-धारिणी सन्यासिनियाँ आस-पास बैठी थीं । उनमें से कुछ प्राचीन उपाख्यान सुनाती थीं, कुछ महाभारत आदि का पाठ

करती थीं, कुछ धर्मोपदेश सुनाकर महारानी का मनोविनोद करती थीं। वर्षसर (खोजे) स्त्रियों के समान रूप धारण कर अत्युज्ज्वल अलङ्कारों से सज्जित होकर महारानी की सेवा कर रहे थे, परिचारिकाएँ अनवरत चामर झल रही थीं। कुछ परिचारिकाएँ वस्त्र, आभरण, पुष्प, पटवास, ताँबूल (पान), तालवृन्त (पङ्खा), अङ्गराग आदि लेकर मंडलाकार खड़ी थीं। महारानी के हृदय-देश पर एक मुक्ता का हार सुशोभित था।

राजाओं के अन्त:पुर जैसे सुसज्जित अन्त:पुर सब को सुलभ तो न थे, पर छोटे-मोटे पैमाने पर प्रत्येक नागरक अपना अन्त:पुर उसी आदर्श पर बनवाया करते थे। साधारणत: मकान नगर की रथ्या (रथ ले जाने योग्य सड़क) के दोनों किनारे हुआ करते थे। किसी विशेष अवसर पर उदाहरणार्थ राजा की सवारी निकलने पर या राजकुमार के विवाह आदि के अवसर पर जुलूस (यात्रा) को देखने के लिये पुर-सुन्दरियाँ अपने-अपने महलों के गवाक्षों (खिड़कियों) से झाँका करती थीं। इस दृश्य का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन रघुवंश और कादम्बरी में आया है। बाणभट्ट ने इन पुर-रमणियों के भावालाप का भी बड़ा सजीव वर्णन किया है। अपने पति की आज्ञा से गृहिणी धार्मिक उत्सवों और यात्राओं में शामिल हो सकती थी, परन्तु सब समय उसकी रक्षा की चिन्ता घर घर के पुरुषों को रहा करती थी। उस युग का आदमी स्त्रियों की रक्षा के लिये सदा सचेष्ट रहता था। वात्स्यायन, मनु की भाँति ही, स्त्रियों को सदा रक्षणीय समझते हैं।

अन्तःपुर के भीतर भिक्षुणियों का अबाध प्रवेश था, पर जान पड़ता है ये भिक्षुणियाँ भले घर की स्त्रियों को बहकाने लगी थीं। नाट्य-शास्त्र में इन्हें इस काम के लिये दूती बनाने को भी कहा गया है। वात्स्यायन ने स्पष्ट शब्दों में इन्हें अन्तःपुर में प्रवेश करने के अयोग्य कहा है। नाइनें, मालिनें और इसी प्रकार की अन्यान्य परिचारिकाओं को बाहर-भीतर आने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कभी-कभी सुनार, मनिहार, जौहरी आदि पुरुष भी अन्तःपुर में जा सकते थे जिन्हें पर्दे की ओट में बात करने की आज्ञा होती थी। ब्राह्मण भी पूजा-पाठ और आशीर्वाद देने के लिये भीतर जा सकते थे और इन्हें भी पर्दे की ओट में रहना पड़ता था। राजाओं के अन्तःपुरों में कञ्चुकी और महत्तरिकायें हुआ करती थीं जो बाहर और भीतर उपहारों के आदान-प्रदान का काम करती थीं।

अन्तःपुर में सम्मिलित परिवार-प्रथा का कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता। गृहिणी के देवरों की तो चर्चा मिल जाती है, और उसके सास-ससुर का भी हाल मालूम हो जाता है, लेकिन देवरानी, जेठानी आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि सम्मिलित परिवार-प्रथा उस समय उतनी जटिल नहीं हो गई थी जितनी आज है।

नागरक का जीवन जितना ही विलासमय था, उसकी स्त्री का या स्त्रियों का जीवन उतना ही पवित्र और कर्ममय था। उस युग के नाटक, काव्य, आख्यान आदि में इस बात का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि उसे नये सिरे से कहने की कोई आवश्यकता नहीं। उस युग की गृहिणी आज की गृहिणी

की भाँति ही कर्ममय थी । वह बड़े प्रेम और आदर के साथ अपने पति की सेवा करती थी, कुलाचार और लोकाचार का पालन करती थी और गृह-देवताओं की पूजा करती थी ! पति के मित्रों को उपहार भिजवाना, सगे-सम्बन्धियों का नाता-रिश्ता रखना, सास-ससुर की सेवा करना उसका प्रधान कर्तव्य था । रन्धन-शाला का काम वह देखती थी, बगीचे की देखभाल वह करती थी, बच्चों की तीमारदारी उसे करनी पड़ती थी । सुबह से शाम तक वह सेवामय जीवन बिताती थी । कुशल पति उसे नाना मनोविनोदों से प्रसन्न करता रहता था। बातचीत में, हँसने-बोलने में, चलने-फिरने में वह सदा संयत रहती थी ।

नौकरों के वेतन देने से लेकर सांवत्सरिक आय-व्यय का सारा हिसाब सदा स्त्री सम्भालती रहती थी और पति की अनुपस्थिति में उसके विश्वस्त मित्रों की सहायता से उसका काम-काज भी देखा करती थी ।

स्त्रियों का बाहर घूमना या चौखट पर खड़ा होना, प्रासाद से राजमार्ग की ओर ताकना, सदा देखते रहना आदि बातें उन दिनों अच्छी नहीं समझी जाती थीं । वात्स्यायन ऐसी स्त्रियों को सहज ही बहकाने योग्य मानते हैं । नगर के बाहर उन दिनों बहुत से उद्यान हुआ करते थे । ललित विस्तर एक शहर के ऐसे ५ सौ उद्यानों की चर्चा करता है । अश्वघोष ने भी ऐसे उद्यानों की चर्चा की है । इन उद्यानों में कभी-कभी अन्तःपुरिकायें घूमने या पिकनिक करने जाया करती थीं । पर जान पड़ता है, ऐसी यात्रायें सदा निर्विघ्न नहीं हुआ करती

थीं। शहर के बदमाश प्रायः ऐसी अवस्था में निःसहाय लड़कियों का अपहरण कर लिया करते थे। मृच्छकटिक की वसन्त सेना एक ऐसे ही उद्यान में अपहृत हुई थी।

अन्तःपुर की स्त्रियाँ समाज में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। बराहमिहिर ने कहा है कि 'पृथ्वी में नगर सार है और नगर में गृह। गृह में भी एक हिस्सा और तत्रापि स्त्री सार वस्तु है।' बराहमिहिर स्त्रियों के विषय में की हुई बौद्ध और जैन परिव्राजकों की निन्दा बर्दाश्त नहीं कर सके थे और पूछा था कि—'सच बताओ, तुमने स्त्रियों में जितने दोष बताये हैं उनमें से कौन से ऐसे हैं जिन्हें पुरुष ने नहीं किया ? यह तुम्हारी धृष्टता है जो स्त्रियों की निन्दा करते हो।' मनु ने भी उन्हें गुणाधिका कहा है। दारातिक्रमण करने वाले को कठोर पाप-भागी बताते हुए उक्त आचार्य ने व्यवस्था दी है कि उसे ६ महीने तक गधे का चाम ओढ़ कर भिक्षा माँगना होगा तब वह शुद्ध होगा। शायद उस युग के नागरिकों के विलास-मय जीवन से झुँझला कर ही उन्होंने कहा था 'देखो इन साधुओं की धृष्टता! ये निष्पाप स्त्रियों की (बराह के मत से स्त्रियाँ सदा पवित्र होती हैं) निन्दा करते हैं। यह तो इस प्रकार की बात है गोया चोरी करने वाला ही चोर-चोर कह कर डाँटे।'

अन्तःपुरिकायें चिट्ठी लिखना-पढ़ना जानती थीं, साल भर का हिसाब-किताब भी रखती थीं, शास्त्रालाप भी कर लेती थीं, पर शायद उन्हें इससे अधिक शिक्षा नहीं मिली रहती थी। यद्यपि नाना कलाओं में उनका दक्ष होना आवश्यक

माना जाता था पर इसकी कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी। ऐसी गन्धर्व-शालाएँ थीं जहाँ धनियों के पुत्र और गणिकाओं की पुत्रियाँ साथ ही शिक्षा पाती थीं। पर उनमें लड़कियों का भेजना ठीक नहीं समझा जाता था। फिर भी किसी-किसी लड़की में अपूर्व कला का परिचय मिलता था। ललित विस्तर के अनुसार सिद्धार्थ की पत्नी 'शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव' थी।

अन्तःपुर में धनियों की अनेक पत्नियाँ रहा करती थीं। लेकिन साधारण नागरिक प्रायः बहु-विवाह नहीं करते थे। बहुत पत्नियों का अन्तःपुर निश्चय ही दुःखमय रहा होगा। वात्स्यायन ने इन अन्तःपुरों के बारे में कई गुरुतर सन्देह रखने का उपदेश दिया है। कभी-कभी इन अन्तःपुरों में रह कर विरक्त हुई पत्नियाँ पतियों तक का प्राण ले लेती थीं। बराह-मिहिर ने ऐसे दो-एक ऐतिहासिक रेकार्ड वृहत्-संहिता में रख छोड़े हैं। राजा विदूरथ की पत्नी ने वेणी में छिपाये शस्त्र से और काशिराज को देवी ने विष-दिग्ध नूपुर से पति को मार डाला था। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

अन्तःपुर की देवियाँ चित्र-कला में बहुत चतुर हुआ करती थीं। घर के काम-काज से छुट्टी पाकर वे चित्र बनाया करती थीं। अन्तःपुर की दीवालें अनेक चित्रों से सुसज्जित हुआ करती थीं। इनमें के अधिकांश चित्र स्त्रियों के बनाये होते थे। दस्तकारी की कला खूब उन्नति पर थी। घर को सुरुचि-पूर्ण उपादानों से सज्जित करना गृहिणी का प्रधान कर्तव्य था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० एच० सी० चाकलादार

महोदय ने उन दिनों की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर लेख लिखा है उसमें वात्स्यायन के युग की कला-निपुणता पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। इस लेख में हमने उक्त लेख से सहायता भी ली है। पाठक स्वयं भी उसे देख सकते हैं।

गृह-स्वामिनी के शयन-कक्ष के बाहर शुक (तोते) और सारिकाओं (मैनों) के लिये स्थान बने होते थे। काम-काज से थकी गृहणियाँ इनसे मनोविनोद किया करती थीं। कालिदास की परिकल्पित पत्नी के घर के सामने ऐसी सारिका थी। रत्नावली नाटिका की सारिका ने ही राजा का रहस्योद्घाटन किया था। मृच्छकटिक की नगरश्री वसन्त सेना के घर के सातवें प्रकोष्ठ में (अर्थात् सब से भीतर वाले आँगन में) पञ्जर शुक और मदन सारिका टँगी हुई थीं। शुक और सारिका के अतिरिक्त अन्तःपुर के सामने कोकिल और कपोत भी दिखाई देते थे। उन दिनों कपोत हर गृह में पाले जाते थे। कुछ तो इनका मकान के मुण्डेरों पर रहना शुभ-सूचक माना जाता था और कुछ इनसे चिट्ठी-पत्री भेजने का काम लिया जाता था। अन्तःपुर के भीतर सारस और तित्तरों के रहने की भी चर्चा मिलती है। शायद तित्तरों की लड़ाई अन्तःपुरिकाओं के मनोविनोद का साधन रहा हो। निकटवर्ती वाटिका में मयूर विचरण किया करते थे। कभी-कभी मृदङ्ग-ध्वनि से कल्पित मेघ-ध्वनि उत्पन्न करके उन्हें नृत्य के लिये उत्तेजित किया जाता था।

जैसा कि पहले ही बताया गया है, राजा या किसी

धनीमानी के घर प्रायः नागरिक स्त्रियों की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। इन गोष्ठियों में केवल स्त्रियाँ ही जा सकती थीं। इनमें गान और नृत्य हुआ करते थे। विशेष-विशेष अवसरों पर पड़ोसी के घर प्रायः गोष्ठियों का आयोजन होता था। कभी-कभी ऐसी गोष्ठियों को सन्देह की दृष्टि से भी देखा जाता था। परन्तु साधारणतः ऐसा नहीं हुआ करता था। गोष्ठियों में तित्तिरों भेड़ों की लड़ाई आदि के द्वारा भी मनोविनोद किया जाता था। तात्कालिक काव्यों, नाटकों और आख्यायिकाओं से अन्तःपुरिकाओंके सेवामय और सन्तोषमय जीवनका अच्छा परिचय मिलता है। बाहरी बैठकखाने की विलासितामय चहल-पहल के न होते हुए भी अन्तःपुर नितान्त नीरस या केवल धर्ममय स्थान न था। वहाँ भी आनन्द था, रस था और सब से बढ़ कर सन्तोष था। उस युग की गृहिणी प्रेयसी थी और देवी भी।

बाकू का हिन्दू मन्दिर

(श्री राहुल सांकृत्यायन)

मन्दिर का द्वार बन्द था। तवारिश अना चाबी वाली बुढ़िया को बुलाने गई, और हम दोनों मन्दिर के द्वार पर पहुँचे। फाटक दोतल्ला है, जिसके निचले और उपरले दोनों तल्लों पर एक-एक शिलालेख है। लेख साफ नागरी अक्षर में हैं। वैसे होता तो इतनी दूर नागरी वाले शिला लेख और हिन्दु-मन्दिर को देख कर बड़ा आश्चर्य होता, किन्तु मुझे इस मन्दिर की खबर पहले-पहल अप्रैल, १६२० में मिली थी। उस समय पंजाब से रमता हुआ मैं बीरगंज (नेपाल) पहुँचा था। इरादा काठमांडों जाने का था, पर राहदारी मिल न रही थी। वहीं रक्सौलवाली नदी के पुलके पास नदी-तटपर एक साधुकी कुटिया में आसन जमा था। एक नौजवान साधु भी कुछ दिन पहले से आकर वहीं पड़ा था। पूछा-पेखी होने पर उसने बतलाया—"मैं बड़ी ज्वालामाई से आ रहा हूँ।"

"बड़ी ज्वालामाई! कांगड़ेवाली तो नहीं?"—मैंने पूछा।

"नहीं वह बहुत दूर है। हिन्दुस्तान से वहाँ पहुँचने में महीनों लगते हैं, वह रूस के मुल्क में है।"

दिल तो उत्तेजित हो रहा था कि कह दूँ—'क्यों बक रहे

हो.' पर बैठेठाले झगड़ा कौन मोल ले ! मैंने पूछा—'वहाँ जाने का रास्ता कहाँ से है ?"

"काशमीर के पहाड़ों को पारकर चीनका मुल्क है और फिर वहाँ से महीनों चलने पर ज्वालामाई हैं। कराची से जहाज पर भी जाने का रास्ता हैं।"

मुझे इस सरासर झूठ पर सख्त गुस्सा आ रहा था। मैंने फिर कहा—"क्या हिंगलाज भवानी के पास।"

"नहीं नहीं, वह बहुत दूर रूसके मुल्क में है। वहाँ आग रूपी ज्वालामाई विराजती हैं। धरती से एक ज्योति निकलती है। नैवेद्य तैयार कर सामने रखा जाता हैं, और माई स्वयं उसे अपनी जिह्वासे ग्रहण करती हैं। मैं वहाँ छै-सात वर्ष रहा हूँ। उधर कोई और साथी न होने से मन नहीं लगा और चला आया। मैं काशमीर के पहाड़ी रास्ते लौटा हूँ।"

साधु अनपढ़-सा था। भूगोल का उसे ज्ञान न था। यदि वह कास्पियन समुद्र और बाकू का नाम ले देता, और साथ ही मिट्टी के तेलके कुओं का जिक्र कर देता, तो मैं उसकी बात में कुछ अधिक दिलचस्पी लेता। मगर मैं अपने भूगोल-ज्ञान के अभिमान से उसकी सच्ची बात को बड़े तिरस्कार के साथ सुन रहा था।

सात वर्ष बाद एक बार मैं ग्रेट-ब्रिटेन की 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल (पत्र) की पुरानी फ़ाइलों का परायण कर रहा था। सन् १६०० से पूर्व के एक अङ्क में एक अंग्रेज लेखक का लेख 'बाकू में हिन्दू-मन्दिर' देखा। लेखक ने मन्दिर और उसमें खुदे लेखों का जिक्र किया था। यह भी

लिखा था कि वहाँ एक भारतीय साधु रहता है। यद्यपि बाकू के सिन्धी हिन्दू व्यापारी उसकी सहायता करते हैं, किन्तु उसका मन नहीं लग रहा है। उसने उक्त लेखक से भारत भिजवाने का कोई प्रबन्ध करने का आग्रह भी किया था। यह पढ़कर उस तरुण साधु के प्रति किये अपने मानसिक अत्याचार पर मुझे अफ़सोस हुआ। मैं पछताने लगा कि उस समय यदि मैं कुछ अधिक विश्वास से काम लेता, तो बाकू की ज्वालामाई के बारे में कितनी ही और बातें मालूम कर सकता था।

और अब आठ वर्ष और बीतने पर मैं उसी ज्वालामाई के मन्दिर के द्वार पर हूँ? मन्दिर के फाटक पर नीचे का लेख (पाँच पंक्तियों) में इस प्रकार है:—

"॥ ६० ॥ ओं श्रीगणेशाय नमः ॥ श्लो १
क ॥ स्वस्ति श्रीनरपति विक्रमादितरा २
ज साके ॥ श्री ज्वालाजी निमत दरवा ३
जा बणाया: अतीकेचन गिर संन्यासी ४
रामदहा वासी कोटेश्वर महादेव का...
आसोज वदि ८ । सम्वत् १८६६ ॥"

चान्द्र तिथि, 'निर्मित' और 'वणाया' पर ख़याल करने से मालूम होता है, अतीकेचन गिरि हरियाना या कुरुक्षेत्र के समीप के रहने वाले थे। संस्कृत न जानने पर भी वे साक्षर थे, क्योंकि संयुक्त अक्षरों में उन्होंने ग़लती नहीं की है। दरवाज़ा खोलते वक्त तवारिश अनाने कहा—"यह न-जाने कब के और कहाँ के अक्षर हैं। बड़े-बड़े प्रोफेसर देखने आये, किन्तु कोई नहीं पढ़ सका।"

मैंने कहा—"यह उत्तरी-भारत में सर्वत्र प्रचलित हिन्दी भाषा तथा नागरी-लिपि का लेख है। सन् १८०६ में सवा सौ वर्ष पूर्व, दरवाज़ा बनवाने वाले साधु ने इसे लगवाया है।"

अना ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया मेरे अगाध लिपि-ज्ञान पर।

"आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह अक्षर भारत में उतने ही सुपरिचित हैं, जितने रूसी अक्षर रूस में ! आपके साथ आने वाले प्रोफेसर लोगों का विषय भारतीय लिपि न रहा होगा।"

बुढ़िया ने दरवाज़ा खोला। भीतर बड़ा आँगन है, जिस के बीच में एक चौकोर पक्का मण्डप है। भारत के सभी मठों की भाँति आँगन चारों ओर से साधुओं के रहने की कोठरियों से घिरा है। शायद लकड़ी की मंहगाई से अथवा मजबूती के ख़याल से सभी कोठरियों की छतें चूने-पत्थर के पटाव या लदाव की मेहराबदार बनी हैं। कितनी ही कोठरियों पर बनवाने वाले दाताओं के नाम के शिलालेख लगे हैं। इनकी संख्या दस-ग्यारह होगी, जिसमें दो गुरुमुखी के भी हैं। इनके लेखक पञ्जाब के उदासी साधु थे। समय इतना नहीं था कि मैं और लेखों को पढ़ता और नक़ल करता। मंडप में जा कर खड़ा हुआ। वहाँ चौकोर हवनकुण्ड सा अब भी मौजूद है, पर अब ज्वालामाई नहीं हैं। सवारिश अनाने बतलाया—"दस वर्ष पूर्व तक यहाँ अग्नि-ज्वाला निकलती थी।"

मैंने पूछा—"ज्वाला बन्द कैसे हुई ?"

"स्वाभाविक गैस यहाँ से धरती फोड़ कर निकलती रही होगी, जैसा कि अकसर तेल-क्षेत्रों में देखा जाता है। धरती के नीचे रगड़ खा कर या बाहर से किसी के आग लगाने से गैस जल उठी होगी। एक बार जल जाने पर ऐसी गैस का रोकना है तो जलती बारूद के ढाकने जैसा ही खतरनाक, पर अब कुछ उपाय मालूम हो गये हैं, जिन से इस ज्वाला को शान्त किया गया होगा।"

मुझे ज्वालामाई के अन्त पर बड़ा अफ़सोस हुआ—विशेषकर यह खयाल करके कि बड़ी ज्वालामाई यही थी, काँगड़ेवाली तो छोटी ज्वालामाई हैं।

कितनी ही कोठरियों को भीतर से जाकर देखा। किन्हीं-किन्हीं की दीवारों पर अब भी प्लास्टर हैं, जिस पर कुछ भद्दी मूर्तियाँ भी हैं। किन्हीं २ में आसन लगाने के चबूतरे भी हैं। कहीं धूनी की राख की कालिख भी मौजूद है। यहीं जलती धूनी के किनारे विशाल जटाधारी साधु दिग्-दिगन्त से घूमते आ कर बैठते होंगे। यहाँ सुलफ़े और गांजे की चिलम पर चिलम चढ़ती होगी, और सन्तजन पल्थी मारे अपनी-अपनी यात्रा के अतिरञ्जित वर्णन सुनाते रहे होंगे। इस में तो शक नहीं कि भारत से बाकू आना, अहिन्दू देशों में से हो कर, उस समय बड़ी हिम्मत का काम था।

साहित्य क्या है ?

(श्री जैनेन्द्रकुमार)

साहित्य की सृष्टि और साहित्य की आधुनिक प्रगति पर आलोचनात्मक विचार आरम्भ करें, इस से पहिले अच्छा होगा कि उस बारे की अपनी जानकारी को हम स्पष्ट करलें।

'साहित्य क्या है ?' यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तर में वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्न के चारों खूंट घेर ले। परिभाषा का यह काम नहीं है। परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्न को सर्वथा मिटा नहीं देती। परिभाषा द्वारा प्रश्नवाचक चिन्ह को मिटा देने का यत्न हमें नहीं करना चाहिये। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेल कर आगे से आगे बढ़ाते रहें पर यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखों की ओट कभी न होने दें। जब ऐसा होता है तभी आदमी में कट्टर अन्धता ('डागमा') आती है और उसका विकास रुक जाता है।

इस तरह, एक परिभाषा बनायें और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनाने को तैयार रहें। यह प्रगति-

शील जीवन का लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवन का लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है। इसी को यों कहें कि मनुष्य का और मनुष्य-जाति का भाषाबद्ध या अक्षर-व्यक्त ज्ञान साहित्य है।

प्राणी में नव बोध का उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'कि यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है' यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ। यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—क्षुद्र हूँ। सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानकर चारों ओर 'खाऊँ खाऊँ' कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ।

बोधोदय के साथ ही प्राणी ने शेष विश्व के प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रह की वृत्ति अपने में अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मार कर खालूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है, यह और भी जो कुछ है, मेरे जीवन को पुष्ट करेगा।

बोध के साथ एक वृत्ति भी मनुष्य में जागी। वह थी 'अहंकार' किन्तु 'अहंकार' अपने में ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्र ने विराट के प्रति स्थापित किया। विराट के अवबोध से क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्र ने कहा, 'ओह' मैं 'मैं' हूँ, और यह सब मेरे लिये है।'

इसी ढङ्ग से क्षुद्र ने अपना जीवन सम्भव बनाया।

किन्तु जीवन की इस सम्भावना में विराट् और क्षुद्र, अनन्त और असीम का अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद यह है,—जो कुछ है वह क्षुद्र नहीं है पर विराटका ही अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है।

धूप चमकी, तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ।' बादलों से पानी बरसा तो पर्वत ने कंदरा में सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी तो झरने के जल ने अपने को पेश किया। मनुष्य का चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी पर से खिले गुलाब ने कहा, 'भाई, मुझे देखो, दुनियाँ खिलने के लिए है।' साँझ की वेला में मनुष्य को कुछ भीनी-सी याद आई, और आम के पेड़पर से कोयल बोल उठी, 'कू-ऊ, कू—ऊ।' मिट्टी ने कहा, 'मुझे खोदकर, ठोक-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी सेवा के लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबड़ाओ मत, मुझमें नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूपको वह समझ न सका, वर्षा के जलको, मिट्टी को, धूलको, किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं हैं? पर, उस क्षुद्र ने अहंकार के साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं 'मैं' हूँ, और मैं जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकार टेक बनाकर, अपने को क्षुद्र और सब से अलग करके वह जीने लगा। अर्थात्, सब प्रकार की समस्याएँ खड़ी करके उनके बीच में उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्व के साथ विभेद-वृत्ति ही, उसके जीने की शर्त्त बनकर, उसके भीतर अपने को चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवन में एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मानो अभेद की अनुभूति पाने को भूखी थी। अहंकार से घिर कर वह अपने क्षुद्रत्व के अवबोध से त्रस्त हुआ,—त्यों ही विराट से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँतिसे शान्त करने लगा। यहीं से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान—सब उत्पन्न हुए।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्त्तमान।—इन्हीं दोनों के संघर्ष और समन्वय में से मनुष्य प्राणी के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्रके और विश्वके साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता (हार्मनी) स्थापित करने की चेष्टा चिरकालसे चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संग्रहीत निधि की मूल है। अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूपमें उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिफल हैं।

प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का भोग किया। सफलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, आह्लाद, घृणा और प्रेम,—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने भोगीं, और वे जाति के जीवन और भविष्य में मिल गईं। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया। मन्दिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—वेद, शास्त्र पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व को यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियां पाईं—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदि को उपादान बनाकर, उन्हें ही रखे जाने की उसने चेष्टा की। परिणाम में, हमारे पास ग्रन्थों का अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या क्या नहीं है।

मानव-जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भण्डार लिपिबद्ध हैं, वही साहित्य है। और भी, अक्षरबद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्वको प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

हिन्दी का बढ़ता हुआ शब्द-कोष

(श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार)

हिन्दी के शब्द-कोष का ज़िक्र करते हुए मुझे हिन्दी भाषा की उत्पत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। यह एक तथ्य है कि संस्कृत और प्राकृत से जन्म ले कर जो भाषा उर्दू की सहेली और हमजोली के नाते पिछली अनेक शताब्दियों में खड़ी बोली का रूप धारण करती गई, वही हिन्दी आज भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा के रूप में विकसित होती हुई दिखाई दे रही है।

हिन्दी में इस समय करीब ६५ हज़ार शब्द हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हिन्दी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इस की अपेक्षा काफ़ी कम थी और कौन कह सकता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने के साथ-साथ हिन्दी शब्द-कोष का आकार अब की अपेक्षा अधिक बढ़ नहीं जायगा। अंग्रेज़ी के सम्पूर्ण शब्दों की संख्या इस समय चार लाख से ऊपर है। संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं की शब्द-संख्या भी लाखों में है। इस दशा में कोई वजह नहीं कि हिन्दी के शब्दों की संख्या क्रमशः स्वाभाविक रूप में बढ़ती चली न जाय।

आज जो हिन्दी बोली या लिखी जाती है, उसे अनेक लोगों की राय में, खिचड़ी भाषा कहना चाहिये। उसमें कोई शब्द संस्कृत का है, कोई उर्दू का, कोई फ़ारसी का, कोई अरबी का, कोई पोर्चुगीज़ का, कोई अंग्रेज़ी का और कोई भारतवर्ष की अन्य प्रान्तीय भाषाओं का। यदि आप हिन्दी के किसी वाक्य को ले कर छापेखाने के छोकरों (डिस्ट्रीब्यूटरों) के समान उसका विभाजन (डिस्ट्रीब्यूशन) शुरू कर दें तो आप देखेंगे कि उसके प्रायः सभी शब्द विभिन्न भाषाओं के केसों में वापस लौटते जायेंगे। आपके पास बाक़ी बच रहेंगी सिर्फ़ क्रियायें और विभक्तियाँ और इनमें से भी अनेक ऐसी होंगी जिनके सम्बन्ध में उर्दू के दावे को झूठा साबित करने में काफ़ी प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ेगी।

उदाहरण के लिये मैं अपनी मेज़ पर रखी किसी हिन्दी पुस्तक का एक वाक्य, जो पुस्तक खोलते ही मेरे सामने आ गया है, यहाँ उद्धृत करता हूँ—"कई मिनटों के बाद आख़िर ऊपर की मञ्ज़िल वाली एक खिड़की खुली और उसमें से झाँककर दूकान वाले ने नीचे की ओर देखा। उसे दिखाई दिया कि एक अर्धनग्न-सी मनुष्य-मूर्ति लालटेन हाथ में लिये उसके बरामदे के बाहर खड़ी है।"

इन वाक्यों में 'कई, बाद, आख़िर, मञ्ज़िल, खिड़की, दुकान' आदि शब्द उर्दू और फ़ारसी के हैं 'मिनट' शब्द अंग्रेज़ी का है। 'लालटेन और बरामदा' शब्द पोर्चुगीज़ के हैं। 'अर्धनग्न, मनुष्य, मूर्ति' आदि शब्द संस्कृत के हैं।

यह सब होते हुए भी, यह कोई नहीं कह सकता कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। सच बात तो यह है कि वर्त्तमान युग के सभ्य-समाज में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ वास्तव में खिचड़ी भाषाएँ हैं और वर्त्तमान संसार की सभी भाषाओं की यह खिचड़ी है भी बड़ी मजेदार। क्या यह सच नहीं कि वर्तमान अंग्रेजी का शब्दकोष यदि ग्रीक, रोमन, हिब्रू और संस्कृत के सैकड़ों हज़ारों शब्दों को अपने में खपा न सकता तो वह आज इतना समृद्ध कभी न बन पाया होता ? यही बात जर्मन, फ्रैंच, रशियन आदि संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जिन लोगों को किसी अंग्रेज़ी ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद करने का कभी अवसर मिला है, वे लोग इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि हिन्दी शब्द-कोष में शब्दों की कमी के कारण साहित्यिकों को कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। अंग्रेज़ी के पाँच-पाँच और छः-छः शब्दों के लिए हिन्दी के एक ही शब्द से काम चलाना पड़ता है। विशेषकर मनोवैज्ञानिक भावप्रकाशन के लिए तो हिन्दी में शब्दों की बहुत कमी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यासकार टामस हार्डी की कहानियों का अनुवाद करने के लिए अनेक स्थानों पर मुझे अंग्रेज़ी के एक शब्द का भाव हिन्दी में देते हुए एक पूरा वाक्य तक लिखना पड़ता है।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्त्तमान हिन्दी (खड़ी बोली का प्रचलित स्वरूप) अभी अपने विकास की द्वितीय अवस्था में है। यह सच है कि उसका बचपन समाप्त

हो गया है। परन्तु आधुनिक हिन्दी की यह किशोरावस्था ही तो उसकी वृद्धि का उपयुक्त अवसर है। मुझे मालूम है कि हिन्दी के अनेक पण्डितों की राय में हिन्दी में एक भी नए शब्द का समावेश करना हिन्दी का रूप विकृत करने के समान है। परन्तु ऐसे लोग, सम्भवतः अपने अनजान में ही, हिन्दी के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो रहे हैं। यह तो वैसी ही बात है, जैसे पन्द्रह-सोलह बरस के एक बालक को इस उद्देश्य से फ़ौलाद के फ्रेम में बन्द कर दिया जाय कि बाहर का आहार पाकर उसका शरीर बढ़ने न लगे ! यह एक आशा का चिन्ह है कि हिन्दी में इस तरह के अपरिवर्त्तनवादियों की संख्या बहुत कम है।

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी की नई संज्ञाओं परिभाषाओं और शब्दों का स्रोत क्या हो। मेरी राय में हिन्दी के नए शब्दों के स्रोत निम्नलिखित हो सकते हैं—

१. संस्कृत।

२. उर्दू।

३. भारतवर्ष की प्रांतीय भाषाएँ।

४. वे विदेशी शब्द जो सर्वसाधारण जनता की बोलचाल का भाग बन रहे हैं।

हिन्दुस्तान के लगभग ८० प्रतिशत लोग जो भाषाएँ बोलते हैं, उनका स्रोत संस्कृत है। और यह हमारे देश के लिए सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा के पास शब्दों का अक्षय कोष है। संस्कृत का निर्माण इतने वैज्ञानिक आधारों पर

किया गया है कि उसमें शब्दों की कमी नहीं हो सकती। वहाँ शब्दों की अक्षय टकसाल है। इस टकसाल से जब चाहे जितने शब्द गढ़े जा सकते हैं। संस्कृत में लगभग तीन हज़ार धातुएँ हैं और उनके आधार पर चाहे जितने नए शब्द तैयार किए जा सकते हैं।

संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा को, उसके व्याकरण की दुरूहता तथा कतिपय अन्य कारणों ने जिस तरह अप्रचलित, बूढ़ी और पुरानी भाषा बना दिया, उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस बात से बहुत कम लोगों का मतभेद होगा कि हिन्दी के लिये नये पारिभाषिक (टेकनिकल वर्ड्स) शब्द हमें संस्कृत से ही गढ़ने चाहियें। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि संस्कृत जैसी समृद्ध और वैज्ञानिक भाषा से हमें जितने अच्छे और माकूल शब्द मिल सकते हैं, वैसे शब्द संसार की अन्य किसी भाषा से शायद ही गढ़े जा सकें। दूसरा यह कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषायें संस्कृत से निकली हैं अथवा उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है, इस दशा में बड़ी आसानी के साथ ऐसा प्रबन्ध किया जा सकता है कि संस्कृत के वे पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द हिन्दी के साथ ही साथ बङ्गाली, गुजराती, मराठी और पंजाबी में भी बरते जायँ। मेरा तो ख्याल है कि दक्षिण की भाषाओं के लिये भी उन पारिभाषिक शब्दों को अपना लेना कुछ बहुत कठिन न रहेगा, क्योंकि उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव सदियों से विद्यमान है। इस उद्देश्य से कभी

अन्तरप्रान्तीय पारिभाषिक-शब्द-समिति की स्थापना भी की जा सकेगी।

हिन्दी अपने विकास में संस्कृत की अनेक प्रथाओं से मदद लेगी और इस दृष्टि से अतिरिक्त शक्तियाँ (रैज़ीजुअरी पावर्स) संस्कृत में ही रहेंगी, इस बात से भी मुझे इनकार नहीं है। तथापि हिन्दी के विकास में अन्य भाषाओं से, विशेषकर उर्दू से, हमें जो सहायता मिलती है, उसे स्वीकार किये बिना हम हिन्दी को व्यापक और प्रभावशालिनी नहीं बना सकते।

हिन्दी और उर्दू को दो बहनें कहना भी कुछ अत्युक्ति न होगी। दोनों का विकास एक-सी दशाओं और लगभग एक ही समय मे हुआ है। उर्दू छोटी बहन है और हिन्दी बड़ी। इन दोनों का मुख्य भेद लिपि सम्बन्धी है। खड़ी भाषा पर उर्दू मुहावरों का जो प्रभाव पड़ा है, उसने वर्तमान हिन्दी का अधिक सजीव और सुन्दर बना दिया है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। मेरा तो ख्याल है कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पोषकों में से यदि साम्प्रदायिकता की संकुचित और विषैली मनोवृत्ति नष्ट हो जाय, तो उर्दू का सम्पूर्ण शब्द-कोष, फारसी और अरबी शब्दों को छोड़कर, बड़ी आसानी के साथ हिन्दी में पचा लिया जा सकता है।

जिस दिन यह बात हो जायगी, उस दिन हम देखेंगे कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी सहसा बहुत अधिक समृद्ध और बलशालिनी बन गई है।

बीसवीं सदी में हिन्दी-आंदोलन के अनेक नेताओं तथा साहित्यिकों ने इस तथ्य को समझा है और उन्होंने

हिन्दी में सैकड़ों-हजारों उर्दू शब्दों और मुहावरों को खपा लेने का सफल प्रयत्न भी किया है। वर्तमान हिन्दी साहित्य के तीन प्रमुख स्वर्गीय साहित्यिकों का नाम इस सम्बन्ध में पेश किया जा सकता है, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पण्डित पद्मसिंह शर्मा और मुन्शी प्रेमचन्द । कौन कह सकता है कि वर्तमान हिंदी पर इन तीनों महान् साहित्यिकों की गहरी छाप नहीं है ?

उर्दू के अधिकांश शब्द जो उत्तर भारत की सर्व-साधारण जनता में बोले और समझे जाते हैं, अपने में खपाकर हिन्दी निस्सन्देह अधिक सम्पन्न और सजीव बन सकेगी, परन्तु यह कार्य भी होगा, प्रयत्न-पूर्वक ही—धीरे-धीरे और समझदारी के साथ।

भारतवर्ष के अनेक राजनीतिक नेताओं ने इस सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण हम लोगों के सम्मुख पेश किया है । इनका कहना है कि न हिन्दी पर बल दो, न उर्दू पर। दोनों भाषाओं के आसान शब्द लेकर 'हिन्दोस्तानी' नाम से एक नई भाषा की सृष्टि करो।

यह हिन्दोस्तानी की बात बहुत कोशिश करने पर भी मैं पसन्द नहीं कर सका । इस हिन्दुस्तानी को महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे इस युग के महापुरुषों का आशीर्वाद प्राप्त रहने पर भी, मेरी राय में साहित्यिक दृष्टि से सिर्फ ऐसे लोग ही इस नई हिन्दोस्तानी के पैरोकार हो सकते हैं, जिन्हें हिन्दी या उर्दू के साहित्य से कुछ विशेष या गहरा वास्ता न हो । यह जानते हुए भी कि हिन्दी का शब्द-

कोष अभी अमीर नहीं है, यह सलाह देना कि हिन्दी में आप संस्कृत के शब्दों का प्रयोग इस लिए कीजिए, क्योंकि सर्व-साधारण किसान उन्हें अपने दैनिक व्यवहार में इस्तेमाल नहीं करते अथवा उत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण जमात उन्हें नापसन्द करती है—एक साहित्यिक की दृष्टि में उसी तरह की बात है, जिस तरह किसी बालक की कोई महत्वपूर्ण नस काट देना। आप किसानों के लिए लिखिए, आप मजदूरों के लिए लिखिए, आप आसान भाषा में लिखिए, यह सब ठीक है; परन्तु इस कार्य के लिए हिन्दी को हिन्दोस्तानी का नाम देने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई, यह मैं समझ नहीं पाया।

वास्तविक समस्या तो लिपि के प्रश्न की थी। जहाँ तक हिन्दी और उर्दू के शब्द-कोष, प्रयोग और मुहावरों को एक दूसरे के निकट लाने का सवाल है, हिन्दी सम्भवतः उर्दू के भी साहित्यकार इस बात की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं और पिछली तीन दशाब्दियों में ये दोनों बहन-भाषाएँ एक दूसरे के बहुत निकट आ गई हैं। राजनीतिक नेता यदि इस ओर दखल न भी देते तो साहित्यिक-भारतवर्ष का कुछ विशेष नुकसान न होता। असली गुत्थी तो लिपि का सवाल है और उसे हल करने की ओर जैसे किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे अपने विषय से इतनी दूर नहीं आना चाहिये था, परन्तु ये बातें भी कम से कम अप्रासंगिक नहीं थीं।

हिन्दी शब्द-कोष को समृद्ध बनाने के लिए तीसरा स्रोतइस देश की प्रान्तीय भाषाएँ हैं। इस समय तक युक्त-

प्रान्त, राजपूताना, दिल्ली, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रान्त— इन प्रान्तों की मुख्य भाषा हिन्दी है। पंजाब, बम्बई तथा आधी से अधिक रियासतों में हिन्दी अच्छी तरह समझी जाती है और इन प्रान्तों में कुछ अंश तक हिन्दी का प्रचलन भी है। कलकत्ता के निवासियों में चार लाख व्यक्ति हिन्दी बोलने वाले हैं और इसी कारण कलकत्ता हिन्दी का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है। मद्रास नगर तथा प्रान्त में भी हिन्दी का क्षेत्र तैयार किया जा रहा है। सीमाप्रान्त की राजधानी पेशावर में हिन्दी जानने वाला व्यक्ति बखूबी अपना काम चला सकता है। इन परिस्थितियों में हिन्दी को निस्संकोच होकर भारतवर्ष की सब से अधिक व्यापक भाषा कहा जा सकता है।

हिन्दी की इस व्यापकता का सीधा प्रभाव उसके स्वरूप तथा शब्द-कोष पर भी पड़ रहा है और यह स्वाभाविक भी है। एक प्रान्त की हिन्दी दूसरे प्रान्त से भिन्न होती चली जा रही है। गुजराती, बंगाली, पंजाबी आदि प्रान्तीय भाषाओं का हिन्दी पर प्रभाव पड़ रहा है और हिन्दी-भाषी सभी प्रान्तों में विभिन्न शैली की हिन्दी का प्रचलन बढ़ रहा है। पंजाब में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी का मज़ाक उड़ाते, मैंने अनेक अनेक युक्त प्रांतीय मित्रों को सुना है। बिहारी-हिन्दी का मज़ाक दिल्ली में उड़ाया जाता है और मराठी प्रभाव वाली मध्यप्रान्तीय हिन्दी का कलकत्ता में।

प्रान्तीय भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में खूब अच्छी तरह अपना लिये गये हैं। बंगाली 'ठो' शब्द अदद के लिए

प्रयुक्त होता है। सम्पूर्ण विहार और लगभग एक तिहाई युक्त-प्रान्त में यह शब्द दैनिक व्यवहार का भाग बन गया है। इसी तरह अन्य भी अनेक बंगाली, मराठी, पंजाबी और गुजराती शब्द अब हिन्दी-कोष की भी शोभा बढ़ा रहे हैं।

मेरा ख्याल है कि प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का शब्द-कोष समृद्ध बनने में एक बहुत बड़ी बाधा इस देश में अंग्रेज़ी भाषा का अनुचित और अननुपातिक आधिपत्य है। हमारे देश में पढ़े लिखे लोगों की संख्या वैसे ही कम है। भारतवर्ष की लगभग ६० प्रतिशत जन-संख्या किसी भी भाषा की वर्ण-माला तक नहीं जानती। यह ६० प्रतिशत जनसंख्या हमारे देश की भाषाओं–जिनमें हिन्दी प्रमुख है—को समृद्ध करने में कहाँ तक सहायक हो सकती है, इस बात का अन्दाज़ा आसानी के साथ लगाया जा सकता है। शेष १० प्रतिशत जनता में से जिन लोगों में थोड़ी-बहुत साहित्यिक रुचि उत्पन्न हो चुकी है उनका एक बहुत बड़ा भाग अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और हिन्दी वालों में तो छोटे-पन की इस संक्रामक बीमारी का विशेष प्रकोप है। हम लोग जब अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की दरिद्रता, विपन्नता और दुर्बलता की चर्चा करते हैं तो इस बात को भूल जाते हैं कि यह तो हमारे अपने ही मस्तक का लांछन है। हिन्दी का साहित्य यदि दरिद्र है तो उसे समृद्ध बनाना हम लोगों का ही तो काम है।

इस देश के पढ़े-लिखे लोगों में आज जो भाषा दैनिक व्यवहार में लाई जाती है, उसे 'खिचड़ी-भाषा'

भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस भाषा के भाग दाल और चावल की तरह आपस में मिल नहीं जाते। लाहौर के कालेजों मे जब मैं अँग्रेज़ी शब्दों के पंजाबी और उर्दू की क्रियाओं के साथ स्थानीय मुहावरों में गूँथ कर बोले जाते सुनता हूँ तो यह समझ नहीं आता कि इस भाषा को कौन-सा नाम दिया जा सकता है। यही दशा प्रायः सम्पूर्ण देश की पढ़ी-लिखी जनता की है। अपने को कुलीन कहने या समझने वाले अनेक घरानों ने अब अपने पारिवारिक बोलचाल की भाषा भी अँग्रेज़ी को ही बना लिया है। यह दशा निस्संदेह चिन्ताजनक है। परन्तु इस लेख में इन परिस्थितियों का ज़िक्र मैंने सिर्फ़ यही बात सिद्ध करने के लिए किया है कि भारतवर्ष की, विशेष कर हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों की पढ़ी-लिखी जनता में बोलचाल के लिये कोई स्टैंण्डर्ड हिन्दी प्रचलित न रहने का एक प्रभाव हिन्दी के बढ़ते हुए शब्द-कोष को समुचित ढँग से विकसित न होने के रूप में भी पड़ रहा है। अँग्रेज़ी का प्रभुत्व हमारे देश की भाषाओं को ठीक ढंग से पनपने नहीं दे रहा है। एक विदेशी भाषा को ही सारी महत्ता देकर हमारे देश के पढ़े लिखे लोग अपने दैनिक व्यवहार के लिए किसी स्टैंण्डर्ड हिन्दी की जब कोई विशेष आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते, तब अन्य प्रान्तीय भाषाओं से शब्दों और प्रयोगों के आदान-प्रदान का सवाल ही कहाँ उठता है।

बाक़ी रहे विदेशी शब्द। पोर्चुगीज़ के मेज़, कुर्सी, चमचा, बरामदा, लालटेन, चाकू आदि बीसों शब्द हिन्दी का भाग बन चुके हैं। अँग्रेज़ी के सैकड़ों शब्द इस समय तक हिन्दी

में खपा लिये जा चुके हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के वर्तमान लेखकों की शैली और मुहावरों पर अँग्रेज़ी का बहुत स्पष्ट प्रभाव पड़ रहा है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि अँग्रेज़ी के कितने शब्द हिन्दी में खपा लिए जा सकेंगे। इस युग में संसार भर की उन्नत भाषाएँ एक दूसरे से लाभ उठा रही हैं और इसमें बुराई कुछ भी नहीं है।

हिन्दी का शब्द-कोष बढ़ रहा है और अभी उसके बढ़ने की रफ्तार भी तेज़ हो जाने की सम्भावना है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१. संस्कृत में 'अमर कोष' जैसी डिक्शनरियों ने पर्यावाची शब्दों के सम्बन्ध में जिस दूषित मनोवृत्ति को जन्म दिया है, उसका प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा है। अँग्रेज़ी जैसी उन्नत भाषा में एक शब्द का सिर्फ एक ही अर्थ होता है। शेक्सपीयर द्वारा प्रयुक्त किए गये किसी एक शब्द के बदले आप कोई दूसरा शब्द शायद ही सुझा सकें और मेरी राय में किसी भाषा के स्वास्थ्य की पहिचान ही यही है। एक उन्नत भाषा के प्रत्येक शब्द का अपना एक इतिहास होना चाहिये, उसका एक ही निश्चित अभिप्राय होना चाहिए। संस्कृत में पत्थर और शिलाओं के नाना भेदों के लिए जो क़रीब एक दर्जन शब्द थे, अमरकोष-कार ने उन सब को पत्थर का पर्यायवाची बना कर उन शब्दों की आत्मा की हत्या कर दी। 'पंकज-लोचन' जैसे हास्यास्पद शब्द इसी मनोवृत्ति का परिणाम हैं।

आज हिन्दी का शब्द-कोष समृद्ध करते हुए हमें नए और पुराने प्रत्येक शब्द का अर्थ और प्रयोग निश्चित कर देना चाहिए। पर्यायवाची शब्दों के सूक्ष्म भेदों को समझे बिना हम अपने शब्द-कोष को सम्पन्न कदापि न बना सकेंगे, उसमें अनावश्यक भीड़-भाड़ चाहे भले ही कर लें।

यहाँ सिर्फ एक उदाहरण देना ही काफी है। संस्कृत का 'हिम' शब्द आस्मान से गिरने वाली बरफ़, जिसे अंग्रेजी में 'स्नो' कहते हैं, प्रयुक्त होता है। इधर उर्दू का 'बरफ़' शब्द जमाई गई 'आइस' तथा आस्मान से गिरने वाली 'स्नो' दोनों के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। अब अच्छा यह होगा कि हिन्दी में 'हिम' 'स्नो' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय और 'बरफ़' शब्द 'आइस' के अर्थ में।

इसी तरह के पचासों उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं।

२. दूसरी बात इस सम्बन्ध में तरतीब (हार्मनी) बनाए रखने की है। नए-नए और किसी की समझ में न आने वाले शब्दों का अंधाधुन्ध प्रयोग तो सर्वसाधारण हिन्दी-जनता भी सहन न कर सकेगी। इसलिए इस बात से तो मुझे भय प्रतीत नहीं होता। वास्तविक समस्या विभिन्न प्रान्तों के साहित्यिकों में शब्द-कोष सम्बन्धी व्यवस्था बनाये रखने की है। यह बात तभी हो सकेगी जब हिन्दी के विभिन्न प्रान्तों में रहनेवाले साहित्यिक एक-दूसरे से सजीव सम्बन्ध बनाये रख सकेंगे। नए शब्दों को अपनाने में जल्दबाज़ी या धाँधली तो कभी सफल न हो सकेगी।

३. हिन्दुस्तान की जनता में साम्प्रदायिकता का विष बहुत गहराई तक व्याप्त है। प्रान्तीयता नाम का एक नया मर्ज़ भी इन दिनों हमारे देश में बढ़ रहा है। हिन्दी के शब्द-कोष का विकास करते हुए हमें इन दोनों विषों और कीटाणुओं से सावधान रहना चाहिए। बल्कि हिन्दी तो अनेक प्रान्तों में सच्चा सौहार्द्र बढ़ाने में सहायक हो सकती है।

हिन्दी के शब्द-कोष में कौन-कौन सा नया शब्द लिया जाय, इसका अन्तिम निर्णय तो आखिर हिन्दी-जनता के ही हाथ में रहेगा। साहित्यिक लोग अपनी रचनाओं द्वारा नये शब्दों और नए मुहावरों का परिचय हिन्दी जनता से करायेंगे और वह चाहे जिस शब्द या मुहावरे को स्वीकार करेगी और चाहे जिसे अस्वीकार कर देगी। जो शब्द या मुहावरा इस खिचड़ी में आकर पूरी तरह घुलमिल जायगा वह तो ठीक, और जो कनी की तरह कच्चा रहेगा, अथवा दाँतों को लगेगा, वह इस जगह स्थान न पा सकेगा।

हमारी भाषा के साहित्यिकों, पण्डितों और आचार्यों का यह कर्तव्य है कि इस प्रक्रिया को समझें, इसे सहानुभूति की दृष्टि से देखें और इस पर नियन्त्रण रखें।

गंगा-तट

(श्री धर्मवीर एम० ए०)

करीब छः बज चुके थे । मैं पुल के किनारे लगे जंगले पर दोनों हाथ रक्खे खड़ा था। गंगा के दोनों ओर नर नारियों की भीड़ खड़ी थी । हर की पैड़ी पर तीन चार पुजारी हाथ में जलती थालियाँ लिए आरती कर रहे थे । दो-एक आदमी घण्टे बजा रहे थे । कभी-कभी शंख भी सुनाई पड़ता था ; क्योंकि सभी लोग कुछ-न-कुछ मुँह से बोल रहे थे इस लिए जो कुछ पुजारी कह रहे थे। वह मुझे न सुनाई देता था ।

हर की पैड़ी के सामने प्लेटफ़ार्म की सीढ़ियों पर खड़े लोगों की मानसिक अवस्था विचित्र ही थी। विचित्र इस लिए कि मैंने ऐसा बहुरंगा भक्ति-भाव मूर्त्त रूप में पहले कभी न देखा था, एक तरुणी अपने स्लीपर पीछे उतार कर हाथ जोड़े, सिर नवाय खड़ी है। मुँह से कुछ उच्चारण कर रही है, परन्तु वह सुना नहीं जाता। परे दो-चार मनुष्यों को छोड़ कर एक निर्बल वृद्धा मैली-सी साड़ी बाँधे खड़ी है । इसकी आँखें सामने आरती की ज्योति पर लगी हैं । मुँह से यह भी कुछ कह रही है, लेकिन बहुत ठहर-ठहर कर, मानो राम-राम कहते हुए इसे दम चढ़ रहा है । इस बुढ़िया के साथ ही सब से निचली सीढ़ी पर एक शिखा-सूत्र धारी ब्राह्मण, माथे पर तिलक लगाए,

दोनों हाथों को ऊँचे जोड़ कर खड़ा है। इतने में भीड़ को चीरते हुए एक दम्पति सब से आगे निकल आया। पति के हाथ में फूलों का दोना था। पत्नी ने फूलों के ठीक बीच में रक्खे दीये को जलाया और फिर अपने हाथों से ही गङ्गा में उसका प्रवाह किया। तब उन दोनों ने गङ्गा को नमस्कार किया और सीधे खड़े हो गए। ऐसे दीये-रक्खे फूलों के दोने पीछे से भी कितने ही तैरते चले आ रहे थे। लहरों के साथ कभी ये ऊपर होते, कभी नीचे।

यों ये अच्छी तरह से जलते रहते, परन्तु जब ज़रा हवा तेज़ हो जाती तो मद्धम पड़ जाते। पुल के पास ही खड़ी एक माता ने जब दीया जला कर अपनी लघु पुष्प-नौका बहाई तो उसके पाँव में खड़ा छोटा बालक तालियाँ पीटने लगा। उसकी खुशी की कोई हद न रही जब उसने देखा कि एक के बाद दूसरी पुष्प-नौका बहे चली आ रही है। इस बीच में माता ने कहा—'नन्हा बेटा, हाथ जोड़ दो!' बालक माता के मुख की ओर देखने लगा। मां को हाथ जोड़े देखकर उसने भी वैसा ही कर दिया।

इस आरती को देख कर मुझे महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का वह श्लोक याद हो आया जिसमें उन्होंने यक्ष द्वारा मेघ को बताया है कि जब तुम हरिद्वार पहुँचो तो वहाँ सायं को हर की पैड़ी पर होने वाली आरती को जरूर देखना।

एक घण्टा पहले जब मैं इधर सेटफ़ार्म पर आया तब दिन कुछ बाक़ी था दो-चार बार इधर से उधर घूमने पर मैंने कई दृश्य देखे। तीन जगह कथावाचक लोगों को कथा

सुना रहे थे। हारमोनियम और तबला, इन दोनों कृत्रिम साधनों का वे उपयोग कर रहे थे। ये कथावाचक मामूली हिन्दी पढ़े मालूम होते थे, क्योंकि इनका शब्दोच्चारण बहुत गलत था। एक इनमें से राधेश्याम की रामायण गा रहा था और दूसरा किसी और की बनाई पुस्तक के पन्ने उलट रहा था। इन कथावाचकों के गिर्द सब से ज्यादा लोग जमा थे। औरतें भी खूब जुट कर बैठीं थीं। लेकिन ज़रा ध्यान से देखने पर मालूम हो जाता था कि इनमें से बहुत-सी यहाँ इस लिए नहीं जमा हुईं कि कथा सुनें बल्कि इस लिए कि पास बैठी हुई बहिनों के साथ कपड़े-गहने की बात करें। कथावाचक भी इनकी बातों से कुछ-कुछ तंग आ जाता था। यही कारण था कि वह बीच-बीच में सबको एक-साथ यह कहने के लिए आदेश करता—'बोलो, भगवान् रामचन्द्र की जय।'

ये कथावाचक प्लेटफ़ार्म के ठीक बीच की जगह घेरे हुए थे। प्लेटफ़ार्म के पहले सिरे पर एक लँगोटबन्द साधु उपदेश कर रहे थे। इन्होंने अपने इर्द-गिर्द काफ़ी लोग इकट्ठे कर रखे थे। दो चार क्षण ही खड़े होने से मालूम हो गया कि ये महात्मा गुप्त रोगों की दवाइयाँ बेच रहे हैं! इस साधु से कुछ परे हारमोनियम की थियेटरों में गाए जाने वाले किसी गीत की सी आवाज़ कान में पड़ी। उधर गया। देखा, पीली-पीली धोतियाँ पहने कई बालक खड़े गा रहे हैं। पास बैठा एक आदमी जो बाजा बजा रहा है, खूब गला फाड़ रहा है। बीच-बीच में वह बाजे को बन्द कर देता है। लड़के भी यह इशारा

पाकर चुप हो जाते हैं। तब वे हज़रत अपना लेक्चर शुरू कर देते हैं। 'दान की महिमा'—इस विषय पर उन्होंने कई महत्त्व पूर्ण बातें याद कर रखी हैं। बीच-बीच में कई शब्द अँगरेजी के भी बोल देते हैं। शायद इस कारण कि सुनने वालों पर उनके कहने का प्रभाव पड़े। बाजे के सामने बहुत से पैसे बिखरे पड़े थे। यहाँ भी कई स्त्रियाँ यतीमखाने के इस पेशा-वर संचालक का मनोहर और उपदेशात्मक व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र हो रही थीं।

यहाँ से हट कर मैं वापस पुल की तरफ़ चला। किनारे पर कई साधु भभूत रमाए, धूनी लगाए बैठे थे। कई भक्तजन पास बैठे बारी-बारी से सुलफ़े की चिलम पर दम लगा रहे थे। सुलफ़े के ये संन्यासी दूकानदार भी अच्छे पैसे कमा लेते हैं। आगे बढ़ा। पुल पर चलता जा रहा था और साथ ही हर की पैड़ी के सामने पानी में खड़े पंडों को देख रहा था। हाथ ऊँचे कर के कपड़ों को सँभालते हुए ये पंडे खूब ज़ोर से इधर-से उधर और उधर-से इधर घूम रहे थे। मालूम हुआ कि ये पानी में पड़े चाँदी आदि के टुकड़ों को पाँव से तलाश कर रहे हैं; मालूम हुआ कि इस जगह पर लोग फूल या अस्थियाँ बहाते मुरदे के मुँह में कई हिन्दू चाँदी या सोना डाल देते हैं। पाँव को उसने ऊपर उठाया और हाथ से कुछ चीज़ पकड़ ली। एक मिनट देख कर उसने मुँह में डाल ली।

पुल से नीचे उतर कर मैं घाट को जा रहा था कि एक नाई को किसी का सिर मूँड़ते देखा। सिर पुरुष का नहीं था, स्त्री का था इस लिए उत्सुकता से ज़रा परे हट कर खड़ा हो